श्री १०८ मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला का ६वां पुष्प

विद्वद्वर श्री पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्री विरचित–

षट्कर्मसमुच्चयः

और

श्री १०८ मल्लिसागर मुनि पूजा

अनुवादकः—

श्रीमान् विद्वद्वर धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्री

प्रकाशक—

श्री १०८ मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला,

मेरठ।

प्रथम वार १००० } वी० नि० सं० २४६५. { वि० सं० १९९६ मूल्य ।)

प्रकाशक के दो शब्द

आज मुझे श्रीयुत पं० श्यामसुन्दर लाल जी सिद्धान्त-शास्त्रीकृत "षट्कर्म समुच्चय" शास्त्र श्री १०८ मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला की ओर से प्रकाशित करते हुये अतीव आनन्द होता है इस छोटे से ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने गृहस्थ के नित्य छः आवश्यक कर्मों का आर्षमार्गानुकूल एवं सरल संस्कृत श्लोकों में मर्मस्पर्शी विवेचन किया हैं, साथ ही श्रीमान् धर्मरत्न पं० लालाराम जी शास्त्री ने भाषाटीका कर ग्रन्थ की उपयोगिता में चार चाँद और लगा दिये हैं जिससे सर्वसाधारण भी अच्छा लाभ ले सकते हैं इसके लिये उपर्युक्त शास्त्रिद्वय का जितना आभार माना जाय किंवा धन्यवाद दिया जाय, थोड़ा है। इसी प्रकार—

श्रीमान् विद्यावारिधि, वादीभकेशरी, न्यायालंकार धर्मधीर पं० मक्खनलाल जी शास्त्री सम्पादक—'जैन-बोधक' का भी आभार माने बिना हम नहीं रह सकते, जिन्होंने हमारा निवेदन स्वीकार कर इस ग्रन्थ की महत्वपूर्ण भूमिका लिख कर हमको एवं इस ग्रन्थ को गौरव प्राप्त कराया है!

माननीय शास्त्री जी जैसे कार्यदक्ष व्यक्ति हैं वैसे ही परम धार्मिक, प्रतिवादिभयंकर, उत्तम लेखक भी हैं साथ ही आपको धर्म एवं समाज की भी अहर्निश चिन्ता रहती है यही कारण है आपने सैकड़ों अवसरों पर अनेक शास्त्रीय विचारणा सम्पन्न ट्रैक्ट आदि लिखे हैं तथा अनेक उच्चकोटि के प्रौढ़ शास्त्रों की टीकायें की हैं। जिनका धार्मिक बन्धुगण तथा विद्वत्समाज ने सर्वोपरि आदर किया है ऐसे परम धुरन्धर निरीह विद्वान् द्वारा लिखी हुई गवेषणा पूर्ण भूमिका द्वारा ग्रन्थ और भी महत्वपूर्ण हो गया है एतदर्थ श्रद्धेय शास्त्री जी को कोटिशः धन्यवाद है!

मन्त्री—ग्रन्थमाला।

जगद्वन्द्य निर्ग्रन्थ वीतराग तपोमूर्ति

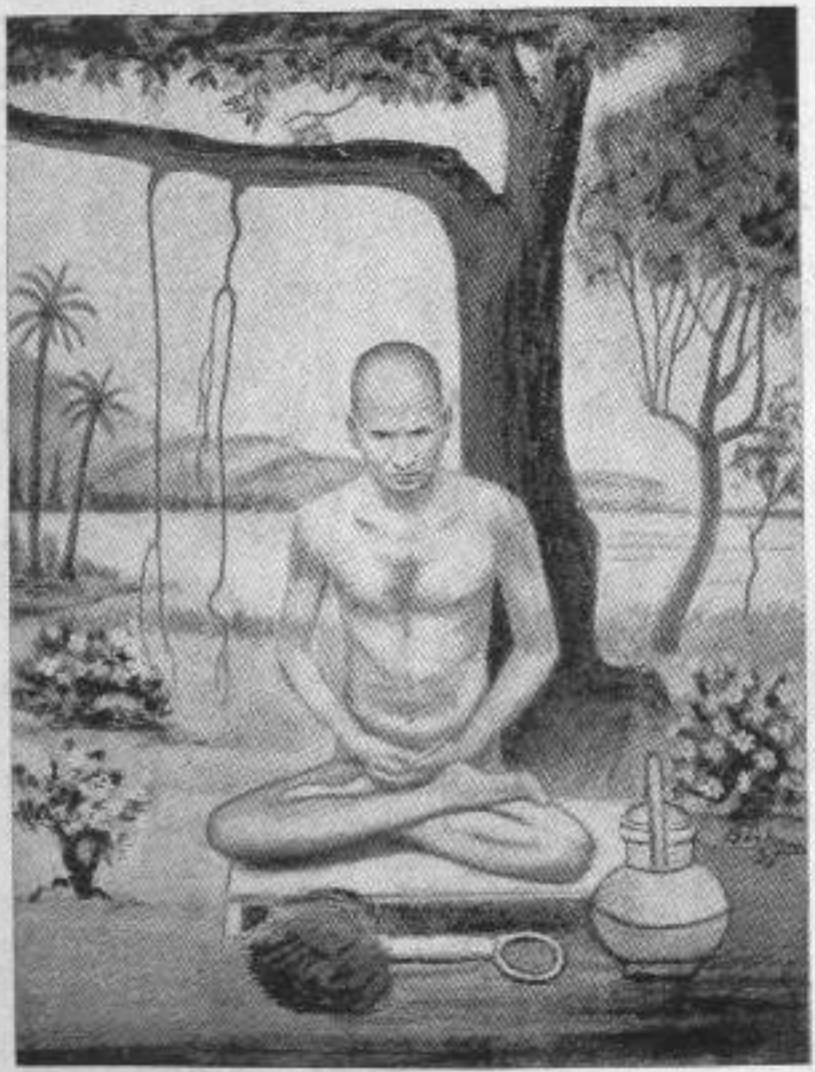

श्री १०८ मुनिराज मल्लिसागर जी महाराज।

भूमिका

(ले०—श्रीमान् विद्यावारिधि, वादीभकेशरी, न्यायालंकार धर्मधीर पं० मक्खनलाल जी शास्त्री प्रिंसिपल–श्री गो० दि० जैन सि०विद्यालय, मोरैना. संपादक–जैन बोधक)

षट्कर्मपडावश्यक महाव्रतादीनि मुक्ति संसिद्ध्यै ।
गृहियमिनां भणितानि च येनादिजिनेन तंवन्दे ॥

षट्कर्म समुच्चय—यह ग्रन्थ छह अधिकारों में बांटा गया है इस ग्रन्थ की सब अधिकारों को मिला कर करीब २५० श्लोक संख्या है ग्रन्थ का विषय उसके नाम से ही प्रगट है, श्रावकों के लिये प्रतिदिन आवश्यक छः कर्मों का इस ग्रन्थ में विवेचन किया गया है। देवपूजा गुरूपास्ति आदि प्रत्येक विषय का विवेचन एक एक अध्याय में पूरा किया है।

देवपूजा के प्रकरण में पूजा का स्वरूप, पूजा के भेद, नव देवताओं का उल्लेख, पञ्चामृताभिषेक विधान एवं उसका फल आदि सभी उपयोगी एवं आवश्यक बातों का निरूपण किया गया है। पूजा अभिषेक पूर्वक ही विशेष फल प्रद होती है। यह बात भी दो श्लोकों में बहुत सुन्दरता से कही गई है।

दूसरे अध्याय में गुरु उपासना को श्रावक के लिये आद्य कर्त्तव्य बताते हुए ग्रन्थकार ने गुरुओं का निवासस्थान, वैयावृत्य आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है और यह बात भी बहुत उपयुक्त शब्दों में प्रगट करदी है कि शास्त्रीय ज्ञान की मंदता आदि भले ही हो किन्तु रत्नत्रयविशिष्ट नग्नमुद्रा ही मुख्य रूप से वंदनीय एवं उपास्य वस्तु है।

तीसरे अध्याय में स्वाध्याय का महत्व, आस्थापूर्वक आर्षग्रन्थों का अवलोकन, चारों अनुयोगों का स्वरूप, वाचना पृच्छना आदि स्वाध्याय के भेदों की व्याख्या ये सब विषय संक्षेप में बहुत उत्तम रीति से ग्रन्थ रचियता विद्वान ने स्पष्ट कर दिये हैं।

संयम के प्रकरण में अष्टमूलगुण, पञ्चाणव्रत दिग्व्रत आदि बारह व्रतों का वर्णन अतीचारों का निरूपण और ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन किया है।

बारह तपों का स्वरूप पांचवें अध्याय में और छठे में दान का स्वरूप बताया गया है। दान के प्रकरण में दान, दाता और देय वस्तु के स्वरूप का भेद बताकर ग्रंथकर्त्ता महोदय ने पात्रा-पात्र विचार भी उत्तमता से प्रकट कर दिया है।

संस्कृत श्लोकों में मूल रचना की गई है। उसकी हिन्दी टीका अतीव सुगम कर दी गई है। जिससे साधारण पुरुष भी इस ग्रंथ से लाभ उठा सकता है।

यह 'षट् कर्म समुच्चय' ग्रंथ श्रावकों के लिये बहुत उपयोगी है। छोटे से ग्रंथ में श्रावकों के लिये आवश्यक षट् कर्मों का स्वरूप सार भूत शब्द रचना द्वारा बहुत अच्छी तरह से बताया गया है।

इस ग्रन्थ के रचयिता

श्रीयुत पं० श्याम सुन्दरलाल जी शास्त्री मु० गोंछ जिला आगरा के निवासी हैं चार साल पूर्व ये श्री० गो० दिगम्बर जैन सिद्धान्त विद्यालय मोरेना में पढ़ते थे। इनकी गणना व्युत्पन्न एवं सुयोग्य होनहार छात्रों में की जाती थी। कई वर्ष तक हमारे पास इन्होंने शास्त्री कक्षा तक के उच्च कोटि के ग्रंथों का अध्ययन कर उनमें विद्वत्ता प्राप्त की है। साथ ही ये दृढ़ कार्मिक भी हैं।

इस समय फीरोजाबाद में कपड़े का व्यवसाय करते हैं। उच्च कोटि का अध्ययन एवं दृढ़ धार्मिक होने के कारण अपनी दूकान का कार्य करते हुए धर्म एवं समाज सेवा का कार्य भी समय समय पर करते रहते हैं। उसी का फल यह ग्रंथ रचना है। संस्कृत रचना करने का इनको छात्र जीवन में ही अच्छा अभ्यास रहा है। हिन्दी पद्य रचना भी ये भावपूर्ण ललित शब्दों में करते हैं हमें अपने सुयोग्य शिष्य की इस धार्मिक जनता को लाभ पहुंचाने वाली कृति से बहुत प्रसन्नता एवं संतोष होता है। हम आशा करते हैं कि वे चिरजीवी रहते हुए इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में अपनी विद्वत्ता का पूर्ण सदुपयोग एवं स्वपर हित-साधन करते रहेंगे।

अन्त में ग्रन्थकर्त्ता महोदय ने अपनी लघुता, विद्यागुरु की जय कामना और ग्रन्थ रचना का उद्देश्य बता कर ग्रन्थ प्रशस्ति ६ श्लोकों में पूर्ण की है।

नग्न दिगम्बर वीतराग साधु परम पूज्य १०८ श्री मुनिराज मल्लिसागर जी महाराज का चौमासा गतवर्ष फ़ीरोजाबाद में हुआ था उन्हीं की चरण सेवा में रह कर उन्हीं के आदेश से यह ग्रन्थ रचा है।

ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने मुनिराज मल्लिसागर जी महाराज की संस्कृत पूजा भी रची है। अष्टक व जयमाला दोनों ही शब्द लालित्य एवं भाव पूर्ण हैं।

इस कृति से यह सहज अनुभव हो जाता है कि पं० श्यामसुन्दरलाल जी साधु भक्त, दृढ़ सम्यक् दृष्टि विद्वान् हैं। ऐसे सुयोग्य धार्मिक विद्वानों की सृष्टि से हम भी अपने परिश्रम को सफली भूत मानते हैं। अस्तु!

षट्कर्मों में कतिपय विशेष बातों का खुलासा

इन षट्कर्मों में देव पूजा, गुरु उपासना और दान ये तीन कर्म तो सम्यक्त्व के अन्तर्गत होजाते हैं। स्वाध्याय सम्यक् ज्ञान के अन्तर्गत है। संयम और तप ये दो चारित्र के अन्तर्गत हैं। इसलिये ये षट्कर्म सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र के रूपान्तर ही समझने चाहिये। दान एक देश चारित्र में भी गर्भित हो सकता है। इसलिये जो श्रावक और श्राविकायें श्रद्धा तथा विवेक पूर्वक इन षट्कर्मों का पालन करते हैं, वे सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र इस रत्नत्रय के एक देश धारण करने वाले हैं, अथवा जो एक देश रत्नत्रय को धारण करते हैं वे ही इन षट्कर्मों के पालने में समर्थ होते हैं।

इस वक्तव्य से यह बात भी सुतरां सिद्ध हो जाती है कि जो षट्कर्म का पालन करता है वह पुरुष मोक्ष मार्ग में लगा हुआ है।

आजिविका एवं व्यावहारिक कर्मों की पूर्त्ति करने में इस संसार यात्री गृहस्थ को असिमषि कृषि आदि षट्कर्मों के आरम्भ से पापाश्रव होता है। उस पापाश्रव के रोकने के लिये एवं अनन्त पुण्य बन्ध और असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करने के लिये देव पूजा आदि षट्कर्म ही उसके लिये प्रधान हित-साधक हैं।

देवपूजा प्रधान क्यों है ?

देवपूजा को षटकर्मों में मुख्य एवं प्रथम कर्म कहा गया है। जैनत्व प्राप्ति का प्रथम साधन एवं चिन्ह भी यही देवदर्शन व देव पूजा है। जो व्यक्ति नियम से देव दर्शन नहीं करता है वह श्राद्धिक जैनी भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वीतराग

अर्हत्प्रतिमा के दर्शन से आत्मा में आत्मीय गुणों का विकाश एवं सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है।

यद्यपि शास्त्रकारों ने ध्यान को कर्म निर्जरा के लिये एक मात्र प्रमुख कारण बतलाया है। अनादिकाल से संचित किये हुए अनन्तानन्त कर्म समूह को विशिष्टध्यानी एक अन्तर्मुहूर्त में नष्ट कर केवल ज्ञानी परमात्मा बन जाता है। इतनी जल्दी कर्म नष्ट करने की शक्ति किसी दूसरे साधन में नहीं है। परन्तु वह ध्यान जितना सर्वोच्च फलप्रद है उतना ही दुःसाध्य भी है। जब कि ग्रहस्थों का स्वभावतः चंचल मन, साधारण जपन भगवन्नामोच्चारण में भी विचलित होकर इधर उधर दौड़ता फिरता है। तब सामायिक की बात तो बहुत दूर है। और ध्यान उससे भी दूर तर है।

इसलिये वर्तमान समय में देवदर्शन एवं देवपूजन ही एक ऐसा धर्म साधन है जिसमें जितने परिणाम लगाना चाहो लगा सकते हो। भगवद्गुणस्तवन में, भक्ति रस से भरे हुये भजनों में, उनके समक्ष गद्गद होकर नृत्य करने में, शुद्ध अष्ट द्रव्य से भक्ति भाव पूर्ण उनकी पूजा और जयमाला में जो परिणाम लगता है वह अनिर्वचनीय है। मन तन्मय हो जाता है, भक्ति गंगा बहने लगती है, श्रोताओं के चित्त उल्लसित होकर मुग्ध हो जाते हैं। सितार, सारंगी, हारमोनियम, मृदंग, ढोलक, मंजीरा आदि साज सामान भी यदि भगवद् गुण गायन के साथ हो तब तो जो आनन्द अष्टान्हिका पर्व में देवों को आता है वैसा ही आनन्द एक श्रद्धायुक्त सच्चे भक्त को आ जाता है।

इन सबों के साथ यदि विशुद्ध और विशिष्ट सामग्री भी हो, जैसे शुद्ध ताजे संशोधित सुगन्धित पुष्प, शुद्ध ताजे तैयार किये हुये मोदकादि नैवेद्य, शुद्ध घी या कर्पूर का दीपक, शुद्ध

ताजे पके हुये आम्र, अनार, केला, सन्तरा आदि फल हों तो वह पूजा अनन्त पुण्यवर्धक हो जाती है इसमें कोई सन्देह नहीं है, यद्यपि इस सामग्री के संचय में आरम्भ होता है परन्तु गृहस्थों के कार्यों में जब आरम्भ होता है तब यह धर्मार्थ आरम्भ है, पूजा के लिये जल लाना आदि भी तो सब आरम्भ ही है। इसी-लिये आचार्यपुङ्गव स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है :—

पूज्यंजिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥

आचार्य ग्रन्थों में पूजा के सात अंग बतलाये गये हैं वे इस प्रकार हैं— (१) प्रस्तावना (२) पुराकर्म (३) आह्वानन (४) प्रतिष्ठापन (५) सन्निधीकरण (६) पूजन (७) विसर्जन।

जल से भरे हुये चारकोण कलश और मध्य कलश रख कर और उन पर स्वस्तिक बना कर उन्हें सूत्रवेष्टित करना तथा उनके लिये अर्घ्य देना आदि प्रस्तावना कहलाती है, इसके पश्चात् श्री १००८ श्री जिन प्रतिमा का पञ्चामृताभिषेक आदि करना पुराकर्म कहलाता है। शुद्ध दूध, दधि, घी आदि उत्तम द्रव्य परम पवित्र मुनिराजों को आहार में दिये जाते हैं इसलिये ऐसे पवित्र शुद्ध द्रव्यों से भगवान जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करना सबसे बढ़ कर अनन्तपुण्य का साधक है, जो भव्य श्रावक भक्ति पूर्वक प्रतिदिन पञ्चामृताभिषेक करते हैं और जो उन्हें देखते हैं वे बहुत कल्याणों के भाजन बन जाते हैं!

पूजन के पहिले अभिषेक करना अत्यन्त आवश्यक है। जो बिना अभिषेक किये पूजन करते हैं वे पूजा के पूर्ण फल को नहीं पाते हैं!

पूजन अभिषेक पूर्वक ही होना चाहिये।

आचार्यों ने पूजन का विधान अभिषेक पूर्वक ही बताया

है, इसलिये प्रत्येक श्रावक को पूजन के पहिले अभिषेक करना जरूरी है—

अम्भश्चन्दन तन्दुलोद्गमहविर्दीपैः सधूपैःफलै-
रर्चित्वा त्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम् ॥

—आचार्य सोमदेव ।

अर्थात् अभिषेक महोत्सव करने के अनन्तर ही जलचन्दनादिक से भगवान् की पूजा करनी चाहिये, कहीं कहीं पर ऐसी प्रथा है कि यदि प्रारम्भ में पहुंचनेवाले श्रावकों ने भगवान का अभिषेक कर लिया हो और पूजन का प्रारंभ कर दिया हो, तो उनके पीछे जाने वाले श्रावक अभिषेक नहीं कर पाते हैं, केवल पूजन कर लेते हैं। परन्तु शास्त्रों में ऐसा कहीं भी निषेध नहीं है कि पूजन प्रारंभ होने पर बीच में अभिषेक नहीं किया जाय।

पूजा करनेवाले सभी श्रावक एक साथ ही आकर अभिषेक करें यह बात असम्भव है। पूजा अभिषेक पूर्वक ही पूर्ण फलप्रद होती है ऐसा आगम है---ऊपर पूजा के प्रस्तावना, पुराकर्म आदि सात अंग बताये गये हैं। उन सबों के करने से ही पूर्ण पूजा कहलाती है, तभी पूजा का पूर्णफल मिल सकता है। तब पूजा के पूर्णफल की चाहना करने वाला प्रत्येक श्रावक पूजा के पहले अभिषेक भी करना चाहेगा—

अभिसेयफलेणणरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरि।
खीरोयजलेण सुरिंदपमुहदेवेहिं भत्तिस्स ॥

—आचार्य वसुनन्दि ।

अर्थात् अभिषेक करने का फल है कि जो भगवान् का अभिषेक करता है वह सुमेरु पर्वत पर इन्द्रों द्वारा क्षीरोदधि के जल से बड़ी भक्ति से स्नान कराया जाता है अर्थात् वह तीर्थंकर होता है।

ऐसी अवस्था में यह जरूरी हो जाता है कि भगवान की पूजा का प्रारंभ होने पर भी पीछे पहुंचनेवाला पुरुष भी उत्तम फल की प्राप्ति के लिये पूजन से पहिले अभिषेक करे। एक ओर पूजन और एक ओर अभिषेक होता रहे, इसमें कोई हानि व धर्म-विरुद्धता नहीं है, प्रत्युत पूजन करने वाले को पूजन के साथ २ अभिषेक देखने का भी सौभाग्य मिलता है यह विशेष पुण्यलाभ की बात है तीर्थ क्षेत्रों में इस बात का अनुभव स्वयं भी हर एक व्यक्ति कर लेता है कि वहां पर एक ही टोंक पर एक ही चरण-पादुका की कोई पूजन करते हैं, कोई उसी समय अभिषेक करते हैं, परन्तु वहां किसी के भावों में विकार भाव जागृत नहीं होता है। प्रत्युत भक्तिश्रोत और भी बढ़ जाता है। वहां पर यदि पूजन और अभिषेक क्रम से और बारी बारी से किया जाय—तो सुबह से शाम तक भी किसी किसी की बारी नहीं आ सक्ती है। यही कठिनाई ग्राम नगरों के जिन मन्दिरों में पूजन व अभिषेक क्रम से करने में पड़ेगी, अथवा अभिषेक छोड़कर केवल पूजन किया जायगा तो पूजा का पूरा फल नहीं मिलेगा। भगवान के शिर पर पूर्ण कलसों की गन्धोदक मिश्रित जलधारा का जो महाफल बताया गया है उस फल से वह पूजक वंचित रह जायगा। इसलिये प्रत्येक श्रावक को अभिषेकपूर्वक ही पूजन करना चाहिये। इसी का आचार्य समर्थन करते हैं—

चतुष्कोणस्थितैः कुम्भैस्ततो गन्धाम्बुपूरितैः।
अभिषेकं प्रकुर्वीरन् जिनेशस्य सुखार्थिनः॥
स्वोत्तमाङ्गं प्रसिंच्याथ जिनाभिषेक वारिणा।
जलगन्धादिभिः पश्चादर्च्चयेद्बिम्बमर्हतः॥

अर्थात्—भगवान का पहिले अभिषेक करके और उसे उत्तमाङ्ग में लगाकर पीछे पूजा करनी चाहिये।

आह्वाननादि करने का प्रयोजन ।

सामने वेदी में प्रतिमा विराजमान होने पर भी आह्वानन प्रतिष्ठापन, सन्निधीकरण करना नितान्त आवश्यक हैं जैसाकि पूजन के भेदों में ऊपर लिखा जा चुका है। आह्वानन, प्रतिष्ठापन, सन्निधीकरण का प्रयोजन न तो भगवान को बुलाना है और न नवीन रूप से किन्हीं भगवान को स्थापना ही करना है, किन्तु पूजा के प्रारम्भ में भगवान को अपने हृदय में विराजमान करना है उसी मंत्र की सूचना के लिये पुष्पों का क्षेपण किया जाता है।

भक्त पुरुष पूजन करते समय एकाग्र चित्त होकर भगवान को अपने हृदय में विराजमान करने का संकल्प करता है, मंत्र-पूर्वक किये गये उसी संकल्प की सूचना उन ठौना के पुष्पों द्वारा की जाती है। बहुत लोग ऐसी समझ रखते हैं कि जिन ठौना के पुष्पों में आह्वाननादिक किये जाते हैं उन पुष्पों में भगवान की स्थापना की जाती है। इसीलिये उन पुष्पों को वे विशेष स्थान देते हैं; परन्तु उनकी वैसी समझ गलत है वे पुष्प केवल भगवान को उन्मुख करने के सूचक हैं। उनमें भगवान की स्थापना नहीं है और न की जाती है, पंचम काल में तो अतदाकार स्थापना का ही निषेध शास्त्रों में किया है फिर वहां स्थापना करने का कुछ प्रयोजन भी नहीं है। उपर्युक्त संकल्प के लिये आह्वानन, प्रतिष्ठापन, सन्निधीकरण करना आवश्यक विधि है वह जरूर करनी चाहिये!

श्री जिनेन्द्र प्रतिमा का पूजन या दर्शन श्रावकों को अष्ट-द्रव्य या कम से कम एक द्रव्य कोई भी ले जा कर करना चाहिए! रीते हाथों से दर्शन करना भी विनय रहित है। शास्त्र-विहित तो यह मार्ग है कि अपने घर से स्नान कर पूजा के ही काम में आने वाला अलग सुखाया हुआ शुद्ध धौत वस्त्र (धोती

दुपट्टा) पहनकर और शुद्ध अष्ट द्रव्य लेकर जिन मंदिर में आना चाहिये।

बर्तमान मुनियों में आदर्शता और पात्रदान का माहात्म्य

नग्न दिगम्बर वीतराग मुनियों की पूजा और उन्हें श्रद्धा, भक्ति पूर्वक दान देना यह भी श्रावक, श्राविकाओं का देव पूजा के सामान प्रधान कर्तव्य है।

सर्व मुनिराजों के समान परिणाम नहीं हो सक्ते। सबों का समान ज्ञान और तपोबल नहीं हो सकता। सभी समान सामायिकादि चारित्रधारी नहीं बन सकते। यह भेद प्रत्येक पात्र के यथायोग्य क्षयोपशम एवम् आत्म बल के अनुसार भिन्न भिन्न होता है और इस प्रकार का भेद चतुर्थकाल में भी पाया जाता था। इन पात्र गत भेदों के कारण ही पुलाकादि मुनियों के भेद शास्त्रों में बताये गये हैं। और मुनियों के परिणाम और वृत्ति के अनुसार प्रायश्चित्तादि विधान भी शास्त्रों में पाया जाता है।

ऐसी परिस्थिति में बर्तमान मुनियों में भी कहीं ज्ञान की मन्दता, कहीं संयम की कुछ हीनता आदि बातें भी पाई जा सकती हैं। परन्तु उन बातों की कमी से उन मुनिराजों की पूज्यता एवम् आदर्श में कमी समझना भूल है। शास्त्राधार से मुनि पद के लिये बाह्यरूप में अट्ठाईस मूल गुणों का धारण करना आवश्यक है। यदि उतना बाह्याचरण बराबर ठीक है तो मुनिपद की पूज्यता भी बराबर ठीक है।

आजकल परमपूज्य तपोधन चारित्र चक्रवर्ती १०८ श्री आचार्य शान्ति सागर जी महाराज और उनके शिष्य प्रशिष्यों में अनेक ऐसे वीतराग साधु हैं जो २८ मूलगुण धारण करने के साथ अनेक उत्तम गुणों का पालन कर तपस्तेज से अपने आत्मा को अत्यन्त निर्मल एवं उच्चादर्श तक ले जा

चुके हैं। ऐसे महर्षियों को देखकर भी जिनकी वासना मुनियों की वन्दना एवं मान्यता की ओर नहीं झुकी है तो समझना चाहिये कि उनकी वैसी समझ और मान्यता पूर्वाचार्यों की मान्यता से विपरीत है।

क्योंकि सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र, आचार्य सोमदेव, आचार्य देवसेन आदि पूर्वाचार्यों ने पंचमकाल के अन्त में होने वाले मुनिराजों तक के लिये यह विधान किया है कि उन्हें भी चतुर्थकाल के समान परम तपस्वी, आगमविहित साधु समझकर उनकी वन्दना स्तुति आदि करना चाहिये, तब अभी तो पंचम काल का प्रारम्भ ही है, शास्त्रकारों ने बताया है कि—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहस्स ।
तं अप्पसहावठिदे णहु मण्णइ सोवि अण्णाणी ॥

—आचार्यवर्य कुन्दकुन्द भगवान।

अर्थात् पंचमकाल में भरतक्षेत्र में आत्मस्वभावस्थित मुनियों के धर्म ध्यान होता है जो ऐसा नहीं मानता है वह अज्ञानी है, इस पंचमकाल में स्वल्प परीषहों के सहने से भी चतुर्थकाल की घोर परीषहों के समान असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा साधुओं के हो जाती है। और आत्मविशुद्धि जितनी पहिले बहुत काल में साध्य होती थी वह इस समय स्वल्प काल में पैदा हो जाती है। हीन संहनन में उत्तम परिणामों का यह माहात्म्य है।

इस समय देश काल की परिस्थिति ऐसी हो गई है कि मुनिपद की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ और नितांत कठिन प्रतीत होने लगी है। ऐसी परिस्थिति का भी हेतु यह है कि इस समय राज्य भी मुनि विहार के लिये सर्वथा अनुकूल नहीं है। कहीं २

धर्म विद्वेषी लोग भी मुनि विहार के बाधक बन जाते हैं। इसलिये बालकवत् निर्विकार नग्न मुद्रा भी बहुतों को खटकती है। ऐसी २ अनेक बाधाओं के सहते हुए भी एवं संहनन आदि की हीनता होने पर भी मुनिराज अपनी सिंह वृत्ति से उन सब प्रकार की बाधाओं पर विजय पाते हुए सब जगह विहार करते हैं। उन वीतरागी सच्चे महात्माओं की प्राप्ति से प्रत्येक धर्माभिमानी एवं धर्मनिष्ठ पुरुष को विशेष रूप से हर्षित होना चाहिये।

कलौकाले चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूप धरा नराः॥

—आचार्य सोमदेव।

अर्थात् यह कलिकाल का समय है चित्त चंचल रहता है शरीर अन्नादि का कीड़ा बन गया है ऐसे हीन समय में भी जिन रूप (मुनिलिंग) के धारण करने वाले साधु उपलब्ध हो रहे हैं यही आश्चर्य (महत्व) है। यह हम लोगों के परम सौभाग्य की बात है कि जहां तहां उन परमादर्श वीतरागी साधुओं के विहार से अनेक भव्य जीवों का कल्याण हो रहा है। उन कषाय विजेता एवं इन्द्रिय विजयी महर्षियों के धर्मोपदेश से, पात्र दान से, उनके वैयावृत्य व पवित्र दर्शनों से गृहस्थों का जो महान सच्चा हित होता है वैसा हित उन आदर्श गुरुओं के अभाव में किसी प्रकार साध्य नहीं है। वीतरागी गुरु सजीव तीर्थ हैं। मोह की लहरों से भयंकर इस अथाह वासना समुद्र में डूबते हुए जीवों का उद्धार करने वाले समर्थ नाविक निस्पृह वीतरागी गुरु ही हैं। इसलिये गृहस्थों को वर्त्तमान में उपलब्ध मुनिराजों की भक्ति और पात्रदानादि से अपना जीवन सफल बनाना चाहिये।

पहले प्रथमानुयोग और चरणानुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये।

इसी प्रकार स्वाध्याय से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति और वृद्धि करके मोक्ष मार्ग में उपयोगी तत्वों की पहिचान करना चाहिये। स्वाध्याय भी एक उत्तम तप है। जिस समय स्वाध्याय में एकाग्र चित्त होता है उस समय समस्त चिन्ता और वासनाओं से रहित वह तत्व विचारणा असंख्य निर्जरा का हेतु बन जाती है।

स्वाध्याय के सम्बन्ध में इतना कह देना उपयोगी होगा कि गृहस्थों को पहले प्रथमानुयोगी शास्त्रों का ही स्वाध्याय करना चाहिये। किस जीव ने किस जघन्य पद से निकल कर किस निमित्त से अपनी चरमोन्नति कर डाली। और किस जीव ने किस प्रकार की कृति से क्या फल पाया। इन सब बातों के दृष्टान्तों से स्वाध्याय करने वालों के हृदय के कपाट खुल जाते हैं। बहुत भारी शान्ति मिलती है। परिणामों में निर्मलता आ जाती है, आत्मा दृढ़ व्रती एवं सन्मार्ग गामी बन जाता है। प्रथमानुयोग के पीछे चरणानुयोगी शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये। चरणानुयोगी शास्त्रों के स्वाध्याय से आत्मा अशुभ प्रवृति से हट कर शुभ प्रवृति करने लग जाता है, वही शुभ प्रवृति कालान्तर में विशुद्ध प्रवृति का बीज बन जाती है। करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय सब से पीछे परिपक्व अनुभव में करना चाहिये। उन दोनों अनुयोगों से वस्तु स्वरूप का बोध होता है। परन्तु स्वल्प बोध वालों के लिये स्वात्म हित में जितने सहायक प्रथमानुयोग और चरणानुयोग होते हैं, उतने करणानुयोग और द्रव्यानुयोग नहीं होते हैं।

कोई २ हिन्दी भाषा भाषी स्वाध्याय प्रेमी भाई प्रारम्भ में

ही समयसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थों के स्वाध्याय में प्रवृत हो जाते हैं, वे केवल निश्चयनयावलम्बी बन कर अपने में लगे हुये कर्म जाल को केवल उपाधि मात्र समझ कर अपनी समता परमात्मा से करने लगते हैं। परन्तु ऐसे एकांगी तत्व बोध वाले निश्चयनयावलम्बी पुरुष व्यवहार चारित्र अथवा क्रिया कांड में प्रायः शिथिल भी हो जाते हैं। अस्तु !

जिस प्रकार सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के लिये देव दर्शन व देव पूजन करना प्रतिदिन परमावश्यक है । उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति और वृद्धि के लिये स्वाध्याय करना भी प्रतिदिन परमावश्यक है।

संयम और तप

संयम और तप इन दोनों की विवेचना यदि विशदरीति से की जाय तो यह भूमिका एक पुस्तक का रूप धारण कर लेगी। इस लिये संक्षेप में इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा, कि संयम और तप ये दोनों कर्मों के संवर और निर्जरा के लिये प्रधान तत्व हैं। संयम की व्याख्या—

वद समिदि कसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्णं
धारण पालण णिग्गहो चाग जओ संजमो भणिओ।

इसी गाथा में बीज रूप में आ जाती है । अर्थात् पंच महाव्रतों का धारण करना, समितियों का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, मन वचन काय इन तीनों योगों का त्याग (वश में) करना तथा इन्द्रियों पर पूर्ण विजय करना बस मुनि पद में यही क्रियात्मक संयम स्थूल रूप से गिना जाता है । इसी का एक देश संयम गृहस्थ के लिये बताया गया है अष्टमूल गुणों

का धारण करना श्रावक पद के लिये सब से पहिली सीढ़ी है। अर्थात् बिना अष्टमूल गुणों के धारण किये कोई जैनी नहीं बन सकता है।

एतावता विनाप्येषः श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोथवा॥

(स्वामी अमृतचन्द सूरि)

प्रतिदिन देव दर्शन करना, रात्रि में अन्न की चीज नहीं खाना, जल छान कर पीना, मदिरा मांस मधु का त्याग करना, पांच उदम्बर फल नहीं खाना और जीवों पर दया रखना अर्थात् त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा नहीं करना यह श्रावक की पहिली श्रेणी है। आत्मा की विशुद्धि अथवा निर्मलता संयम से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये यथा शक्ति संयम का धारण करना प्रत्येक श्रावक के लिये आवश्यक है।

बहिरंग और अन्तरंग तपों के धारण करने से कर्मों की निर्जरा होती है। मुनिगण पूर्ण रूप से तपों को धारण कर पूर्ण निर्जरा करने में समर्थ हो सकते हैं और गृहस्थ एक देश तपों को धारण कर एक देश निर्जरा करने में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार ये षट्कर्म गृहस्थ के लिये परम हितकारी दैनिक आवश्यक कर्तव्य है।

मोरैना (ग्वालियर स्टेट)
ता० ४। ६। ३६.

मक्खनलाल शास्त्री।

उपोद्घात

गत वर्ष परमपूज्य प्रातः स्मरणीय मुनिराज श्री १०८ मल्लिसागरजी महाराज ने फ़ीरोज़ाबाद में चातुर्मास किया था, सौभाग्य से हमें भी पूज्य महाराज के चरणसान्निध्य में १—१॥ घन्टा प्रति दिन रहने का अवसर मिल गया था। 'सर्वार्थ सिद्धि' का पाठ प्रतिदिन महाराज सुनाते थे साथ में अनेक उच्चकोटि के शास्त्रीय प्रमाण देकर महाराज तत्व चर्चा भी करते थे जिससे अनेक श्रोताओं का भी महोपकार होता था।

एक माह तक परिचय विशेष हो जाने के बाद महाराज ने कोई श्रावकों के लिये दैनिक उपयोगी ग्रन्थ संस्कृत में लिखने के लिये आदेश किया, तदनुसार यह ग्रन्थ अति स्वल्प समय में लिखा गया है, यद्यपि मेरा विचार अनेक स्थलों पर अधिक विशद करने का था, किन्तु समयाभाव के कारण वैसा न हो सका, क्यों कि उस समय दीपावली तक छपाने का विचार हुआ था, बाद में हम कुछेक परिस्थितियों के कारण अवकाश न मिलने से वैसा न कर सके। अस्तु!

अब ग्रन्थ छपकर पाठकों तक पहुंच रहा है आशा है धर्मज्ञ समाज इससे उचित लाभ उठायेगी।

इस ग्रन्थ में संशोधन एवं मुद्रण सम्बन्धी अनेक बातें हमें श्रीमान् व्या० सा० आचार्य पं० हरगोविन्द जी शास्त्री रिसर्च-स्कालर श्री गो० दि० जैन सि० विद्यालय मोरैना ने बतलाने का कष्ट किया है तथा समय २ पर तुरन्त पत्रोत्तरों द्वारा उत्साहित किया है इसके लिये आपके हम हृदय से आभारी हैं।

फ़ीरोज़ाबाद
१०-६-३६

श्यामसुन्दरलाल शास्त्री,

विद्वद्वर पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्रि रचित

षट्कर्म समुच्चयः

प्रथमोऽधिकारः

निराकृताशेषकलङ्कपङ्को,
निःशेषवित्सत्त्वहितोपदेष्टा ।
सुरेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्र वन्द्यः,
श्रीवर्द्धमानो दिशतुश्रियं नः ॥१॥

जिन श्री वर्द्धमान स्वामी ने अपने आत्मा से समस्त कर्म रूपी कलंक की कीचड़ धो डाली है, जो मूर्त अमूर्त समस्त पदार्थों के जानने वाले सर्वज्ञ हैं, जो समस्त जीवों के कल्याण का उपदेश देने वाले हैं और इन्द्र नरेन्द्र धरणीन्द्र आदि समस्त इन्द्र जिनके लिये नमस्कार करते हैं, ऐसे वे भगवान वर्द्धमान स्वामी हम लोगों के लिये मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १ ॥

स्याद्वादगम्भीर नयाभिरामा,
या द्वादशाङ्गी भुवि वीरवाणी ।
दुष्कर्मसंतानविनाशिनी सा,
प्रक्षालयेत्कर्दमसञ्चयं नः ॥२॥

भगवान वर्द्धमान स्वामी की जोवाणी सप्त भंग रूप गंभीर नयों से सुन्दर है, जिसकी पूर्ण रचना बारह अंगों में की गई है और जो समस्त संसार में अशुभ कर्मों की सन्तान को नाश करने वाली है, ऐसी वह दिव्य ध्वनि रूप भगवान वर्द्धमान स्वामी की वाणी हम लोगों के अशुभ कर्म रूपी कीचड़ के समूह को सर्वथा नष्ट करो॥ २॥

सद्दर्शनज्ञानचरित्रराजितो,
भव्यात्मनां क्षेममयोपदेशकः।
मिथ्यान्धकार प्रतिचण्डदीधिति,
जींयान्मुनीन्द्रो गुरुशान्तिसागरः॥३॥

जो भगवान मुनिराज श्री शान्ति सागर आचार्य सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से सुशोभित हैं जो भव्यजीवों के लिये सदा कल्याण करने वाला उपदेश देते हैं और जो मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के लिये तीव्र किरणों को धारण करने वाले सूर्य के समान हैं, ऐसे वे मेरे गुरु आचार्य शान्तिसागर महाराज सदा काल जीवित रहें॥ ३॥

यदाज्ञयेदं वटुना मया कृतं,
शास्त्रं हि षट्कर्मसमुच्चयाभिधम्।
गुरुस्तपोज्ञानरतो दिगम्बरः,
स मल्लिसिन्धुर्जयति क्षमाकरः॥४॥

जो मुनिराज श्री मल्लि सागर भगवान उत्तम क्षमा के स्थान हैं, जो तपश्चरण और ज्ञान की वृद्धि में सदा लीन रहते हैं जो

दिगम्बर हैं और जिनकी आज्ञा से ही मुझ विद्यार्थी ने इस षट्कर्मसमुच्चय नाम के शास्त्र की रचना की है ऐसे वे भगवान मल्लिसागर मुनिराज सदा काल जयवंत हों ॥ ४ ॥

गृहसावद्ययुक्तस्य, जीविकां कुर्वतस्तथा ।
भूयान्पापाश्रवस्तीव्रो, जायते गृहिणो यतः ॥५॥
षडावश्यककर्माण्युपदिष्टानिजिनैस्ततः ।
प्रत्यहं करणीयानिस्वात्मसिद्धयै मुमुक्षुभिः॥६॥ युग्मम्

जो गृहस्थ चक्की, उखली, चूलि, बुहारी, पानी आदि घर के पापकर्मों के करने में लीन रहता है तथा असि,मसि,कृसि,वाणिज्य आदि जीविका करने में लीन रहता है ऐसे श्रावक के सदाकाल तीव्र और बहुत अधिक पापों का आस्रव होता रहता है, उस आस्रव को रोकने के लिये अथवा उन आये हुए कर्मों को नाश करने के लिये भगवान जिनेन्द्रदेव ने छः आवश्यक कर्मों का उपदेश दिया है, इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले गृहस्थों को अपने आत्मा की सिद्धि करने के लिए इन छह आवश्यकों का पालन प्रतिदिन करते रहना चाहिये ॥ ५-६ ॥

नाघसंतानलिप्तः स्याद्गृहस्थो धर्ममाचरन् ।
प्रेरिताद्रिचये वायौ, वेत्स्यन्ते मशकाः क्वचित् ॥७॥

जो गृहस्थ सदा काल धर्म का आचरण करता रहता है वह पापों से कभी लिप्त नहीं होता, सो ठीक है, क्योंकि जिस वायु से पर्वत तक चलायमान हो जाते हैं ऐसी वायु में क्या

मच्छर कहीं टिकसकते हैं अर्थात् कभी नहीं। इसी प्रकार धर्म धारण करने वाले के समीप पापकर्म कभी नहीं आ सकते ।७॥

आद्यं देवार्चनं तावद्गतपुण्य दुरासदम्।
सम्यक्त्व वर्धनं शैवं, पुण्यातिशयकारणम् ॥८॥

इन छः आवश्यकों में से पहला आवश्यक कर्म भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करना है, यह भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा शुद्ध परिणामों से की जाती है, इसलिये यह पापी जीवों को अत्यन्त दुष्प्राप्य है। इसी प्रकार यह भगवान की पूजा सम्यग्दर्शन को बढ़ाने वाली है, मोक्ष को देने वाली है और पुण्य के अतिशय का प्रबल कारण है ॥ ८ ॥

कलौ भव्यैर्महद्भाग्यसम्पाद्यं हि जिनार्चनम् ।
तावत्पुण्योदयाभावाद्बाह्यसाधन सन्निधौ ॥९॥

इस कलिकाल में भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा भव्य जीवों को बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। जबतक पुण्य कर्म के उदय का अभाव रहता है तबतक बाह्य कारणों के मिलने पर भी भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करने का अवसर प्राप्त नहीं होता ॥ ९ ॥

विघ्नघ्नः सुखीकृत्य, ततो विघ्नविधायिनः ।
दानमानादिभिर्भव्यः शान्तस्वान्तो जिनं महेत् ॥१०॥

भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करने के लिये भव्य जीवों को उचित है कि वे पहले उस पूजा में विघ्न उत्पन्न करने वाले विधर्मी लोगों को दान देकर व उनका यथेष्ट आदर सत्कार कर उनको सुखी व प्रसन्न करलें और फिर शान्त हृदय होकर भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करें ॥ १० ॥

सपर्या वीतरागस्य सर्वज्ञस्य हितैषिणः ।
क्षुत्पिपासादिहीनस्य जिनस्य परमेष्ठिनः ॥११॥

कृतकृत्यस्य सार्वस्य कार्या पुण्यानुबन्धिनी ।
निराकुलतया भव्यैः मनोवाक्कायशुद्धिभिः ॥१२॥

भव्य जीवों को अपने मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक तथा सब तरह से निराकुल होकर वीतराग सर्वज्ञ, हितोपदेशी भूख प्यास आदि समस्तदोषों से रहित, सबका कल्याण करने वाले, सर्वोत्तम परमस्थान में रहने वाले, और घातिया कर्मों का नाश करने रूप अवश्य करने योग्य कार्य को कर चुकने वाले भगवान जिनेन्द्र देवकी महापुण्य को संपादन करने वाली पूजा अवश्य करनी चाहिये ॥ ११-१२ ॥

तत्र नारम्भजं पापमल्पमप्युपजायते ।
नहि वारांशिनिक्षिप्तो विषलेशो विकारकृत् ॥१३॥

यह बात ठीक है कि भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करने में सामग्री धोने आदि में थोड़ा सा पाप उत्पन्न होता है, परन्तु वह पाप खेती व्यापार आदि किसी आरंभ से उत्पन्न नहीं होता अथवा चक्की, चूला आदि के किसी आरंभ से भी नहीं होता। इसलिये वह पाप किसी दोष को उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि उस पूजा से महा पुण्य की प्राप्ति होती है। सो ठीक ही है क्योंकि किसी महासागर में यदि विष की एक बूंद डाल दी जाय तो उससे कोई किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता॥ १३॥

नानाद्रव्यैर्मनोमुग्धै विंधेयार्चा शिवेशिनाम्।
साभिषेकं जिनेन्द्राणां कोहिश्रेयसि तृप्यति॥१४॥

भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करने के लिये सबसे पहले उनका अभिषेक करना चाहिये और फिर मनको मोहित करने वाले अनेक प्रकार के द्रव्यों से मोक्ष महल के स्वामी भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करनी चाहिये। इसका भी कारण यह है कि कल्याण करने वाले कार्यों से कभी कोई तृप्त नहीं होता।

भावार्थ—भगवान की पूजा करना कल्याण करने वाला कार्य है। मोक्ष प्राप्त होने तक कभी भी किसी को भी तृप्ति नहीं होती, अर्थात् किसी का भी चित्त उससे तृप्त होकर हटता नहीं प्रत्येक भव्य जीव का चित्त पूजा अभिषेक में सदा लगा

रहता है। इसलिए भगवान की पूजा अभिषेक पूर्वक सदा काल करते रहना चाहिये ॥ १४ ॥

पञ्चामृताभिषेकेन जिनान्सम्पूजयन्ति ये।
पश्चात्तेषाममर्त्येन्द्रा स्तन्वते स्नपनोत्सवम् ॥१५॥

जो भव्य जीव पंचामृत के अभिषेक पूर्वक भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं वे लोग कालान्तर में अर्थात् एक दो चार पर्यायों के बाद ही इन्द्रों के द्वारा मेरु पर्वत पर अभिषिक्त किये जाते हैं। भावार्थ—पंचामृताभिषेक करने के फल से वे तीर्थंकर पद को प्राप्त होते हैं और फिर इन्द्रादिक समस्त देव मेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरोदधि के जल से उनका अभिषेक करते हैं ॥ १५ ॥

स्नपनं जिनपूजायां मुख्यमाद्यं मुनीश्वरैः।
प्रोक्तमार्षे, ततोभव्यै र्विधेयं सर्वतोमुखम् ॥१६॥

गणधरादिक मुनिराजों ने अपने आर्ष ग्रन्थों में भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करने में अभिषेक करना मुख्य और सबसे प्रथम कर्त्तव्य बतलाया है। इसीलिये भव्य जीवों को यह अभिषेक अवश्य करना चाहिये ॥ १६ ॥

नाभिषिच्य जिनेन्द्रं ये हठादर्चां प्रकुर्वते।
ते दग्धमूलवृक्षस्य फलास्वादनमिच्छुकाः ॥१७॥

जो पुरुष भगवान का अभिषेक किये बिना हठ पूर्वक केवल पूजा ही कर लेते हैं उनको, जिसकी जड़ मूल से जलगई है ऐसे वृक्ष के फलों को भक्षण करने की इच्छा करने वाले समझना चाहिये ॥ १७ ॥

जन्मान्तराघसंतानं स्नपनं कुर्वतोभृशम् ।
पलायते यथावेगात्तमांसि तपनोदये ॥१८॥

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अंधकार सब नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार भगवान का अभिषेक करने से जन्म-जन्मान्तर के इकट्ठे किये हुए समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

बहिः शुद्धिविहीना ये विकलाङ्गाः समुद्धताः ।
अप्रक्षालितगात्रा वा प्रसरद्रुधिरादिकाः ॥१९॥
जात्यादिभ्यश्च्युता शूद्राः पतिता निन्द्यवृत्तयः ।
एषां जिनसपर्यायामधिकारो न सम्मतः ॥२०॥

जिन लोगों ने बाह्य शुद्धि नहीं की है, जिनके शरीर का कोई अंग कम है, जो अत्यंत उद्धत वा उन्मत्त हैं, जिन्होंने स्नान मुख शुद्धि नहीं की है, जिनके शरीर से रुधिर आदि निकल रहा है, जो जाति से च्युत व अलग किये हुए हैं, जो शूद्र हैं व पतित हैं अथवा निंदनीय जीविका करते हैं ऐसे पुरुषों को भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करने का कोई अधिकार नहीं है ॥ १९-२० ॥

प्रथयन्त्यन्यथा तत्र ये कदाग्रहिणो हठात् ।
युक्त्याभासै, र्नतेमान्या आर्षादेशपराङ्मुखाः ॥२१॥

जो पुरुष पूजा करने के अधिकारी नहीं हैं अर्थात् जो पतित जाति च्युत, व शुद्र हैं ऐसे पुरुष अपने दुराग्रह से अथवा झूठी कुयुक्तियाँ देकर हठ पूर्वक जिन पूजा करते हैं वे पुरुष कभी मान्य नहीं कहे जा सकते क्योंकि ऐसे पुरुष जिन वाणी की आज्ञा के पराङ्मुख गिने जाते हैं ॥ २१ ॥

मौनी धौतास्यदन्तश्च कृतस्नानः सुनिर्मलः ।
यजेतैष सुधीर्देव मुत्तरीयावृताननः ॥२२॥

बुद्धिमान् भव्य जीवों को मौन धारण कर, दंतधावन कर मुख शुद्धिकर, स्नान कर, सब तरह से निर्मल होकर और दुपट्टे से मुख ढककर भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करनी चाहिये ॥ २२ ॥

अर्चनं देवदेवस्य त्रिसन्ध्यं सूरिभिर्मतम् ।
प्रातस्सायं च मध्याह्ने पृथग्द्रव्यैर्मनीषिभिः ॥२३॥

गणधरादिक देवों ने व महा बुद्धिमान आचार्यों ने भगवान जिनेन्द्रदेव का पूजन प्रातःकाल मध्याह्न काल और सायंकाल तीनों समय करना बतलाया है तथा तीनों समय अलग अलग द्रव्यों से करना बतलाया है ॥ २३ ॥

तत्र प्रातर्जिनेन्द्राणां सुगन्धै रङ्घ्रिचर्चनम् ।
साभिषेकं सहोत्साहं विधातव्यं मुमुक्षुभिः ॥२४॥

उसमें भी प्रातःकाल में होने वाला भगवान जिनेन्द्रदेव का पूजन अभिषेक कर घिसे हुए केशर चन्दन से भगवान के चरण कमलों को चर्चित करना है, अर्थात् सबसे पहले भगवान का अभिषेक करना चाहिए और फिर उनके चरण कमलों के नखों पर घिसा हुआ केशर चंदन लगाना चाहिये। यही प्रातः काल का पूजन है। मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को यह प्रातःकाल का पूजन बड़े उत्साह के साथ करना चाहिऐ ॥ २४॥

मल्लिका केतकी चम्पाजपापुष्पादिभिर्मुदा।
पुष्पमालादिना कार्यो भव्यैर्माध्याह्निको महः ॥२५॥

मध्याह्न काल का पूजन मल्लिका, केतकी, चंपा, जपा कुसुम आदि पुष्पों से वा पुष्पों की मालाओं से किया जाता है। यह पूजन भी भव्य जीवों को बडी प्रसन्नता से करना चाहिये ॥२५॥

दीपैस्सुरभितैर्धूपैः सायंकाले समर्चनम्।
विधेयं शक्तिभक्तिभ्यां भवाब्धिं तितीर्षुभिः ॥२६॥

इसीप्रकार संसार रूपी समुद्र को पार करने की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को सायंकाल के समय अपनी शक्ति अनुसार भक्ति पूर्वक अनेक दीपों से तथा सुगंधित धूप से भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करनी चाहिए ॥ २६ ॥

जलगन्धाक्षतैः पुष्पै र्नैवेद्यैर्दीपधूपकैः।
फलैरर्घ्यैर्यथाकालं यथेष्टं वा महेज्जिनान् ॥२७॥

अथवा अपने अपने समय के अनुसार अपनी इच्छानुसार जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य चढ़ाकर भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करनी चाहिये ॥२७॥

नित्याष्टाह्निकसर्वतोभद्रकल्पद्रुमान्वितः ।
इन्द्रध्वजो महश्चेति यज्ञः पञ्चविधोमतः ॥२८॥

भगवान जिनेन्द्र देव ने नित्यमह, आष्टाह्निकमह सर्वतोभद्र मह, कल्पवृक्ष मह और इन्द्रध्वज इस प्रकार पूजा के पाँच भेद बतलाये हैं ॥ २८ ॥

नियमेनान्वहं स्वीयद्रव्यैरर्चा जिनालये ।
चैत्यचैत्यालयादीनां सृजनं संयतार्चनम् ॥२९॥
वैयावृत्यं च सङ्घस्य गुरूणां विनयादिभिः ।
सत्कारो गुणवृद्धानां प्रोक्तो नित्यमहो जिनैः ॥३०॥

जो जिनालय में जाकर अपने घर के द्रव्य से प्रतिदिन नियम पूर्वक जिन प्रतिमा अथवा जिनालयों की पूजा की जाती है अथवा मुनियों की पूजा की जाती है अथवा मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका चारों प्रकार के संघ का वैयावृत्य किया जाता है अथवा विनय सेवा आदि के द्वारा गुरुओं का वैयावृत्य किया जाता है अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदि गुणों में बढ़े चढ़े पुरुषों का जो आदर सत्कार किया जाता है उसको भगवान जिनेन्द्र देव नित्य मह कहते हैं ॥२९-३०॥

फाल्गुने कार्तिकाषाढ़ेऽवसानाष्टदिनेषुयत् ।
इन्द्रै र्नन्दीश्वरे पूजा क्रियतेऽष्टाह्निको महः ॥३१॥

कार्तिक फाल्गुन और अषाढ़ महीने के शुक्ल पक्ष के अंतिम आठदिनों में जो इन्द्रादिक देव नंदीश्वर द्वीप में जाकर अकृत्रिम चैत्यालयों का पूजन करते हैं उसको आष्टाह्निक मह कहते हैं ॥ ३१ ॥

मण्डलाधीश्वरै र्भक्त्या प्राणिमात्रोपकारिणी ।
जिनार्चा क्रियते योच्चै र्मण्डपे वा चतुर्मुखे ॥३२॥
उक्तोऽयं सर्वतोभद्रो जिनैस्तज्ज्ञै र्महामहः ।
महोत्सवेन देवेन्द्रै र्जिनेज्येन्द्रध्वजो महः ॥३३॥

जो मंडलेश्वर राजा चतुर्मुख मंडल बनाकर उसमें भक्ति पूर्वक प्राणी मात्र का उपकार करने वाली भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं उसको गणधरादिक विद्वान् मुनिराज सर्वतोभद्र मह नाम की पूजा कहते हैं, जो पूजा इन्द्र लोग बड़े उत्सव के साथ करते हैं उसको इन्द्रध्वज मह कहते हैं ॥३२-३३ ॥

जगत्प्राणिगणं सर्वं सुखीकृत्य यथायथम् ।
सर्वतोऽभयदानेन सिक्त्वा पञ्चामृतैर्जिनम् ॥३४॥
सपर्या श्रीजिनेन्द्राणां लोकालोक विलोकिनाम् ।
क्रियते चक्रिभिर्यासौ कल्पद्रुम महोमतः ॥३५॥

जो चक्रवर्ती यथा योग्य रीति से संसार के समस्त प्राणी मात्र को सुखी करके अर्थात् इच्छानुसार दान देकर के तथा जीवों को अभयदान देकर के लोक अलोक सबको जानने वाले भगवान जिनेन्द्रदेव का सबसे पहले पंचामृताभिषेक करता है

और फिर भगवान की पूजा करता है उसको कल्पवृक्ष मह कहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

इति पञ्चविधो ज्ञेयो जिनानां पुण्यकृन्महः।
तत्पदारूढभव्यैश्च करणीयो यथा विधि ॥३६॥

इसप्रकार महापुण्य उत्पन्न करने वाला भगवान जिनेन्द्र-देव की पूजा करने रूप महायज्ञ पाँच प्रकार का बतलाया है। वह महा यज्ञ अपने अपने पद पर रहने वाले भव्य जीवों को विधि-पूर्वक अवश्य करना चाहिये। भावार्थ-साधारण मनुष्यों को नित्यमह करना चाहिये और इन्द्र चक्रवर्ती आदि को अपने पद के अनुसार करने योग्य यज्ञ करना चाहिये ॥३६॥

महेदेवं जिनाधीशान् तन्निर्वाणधरा अपि।
क्षेत्रानतिशयांश्चापि तद्गिरंस्यात्पदाञ्चिताम् ॥३७॥

सुदृशश्च यथास्वं या जिनशासनदेवताः।
यथाविधि यथाशास्त्रमर्चनीया दिनं दिनम् ॥३८॥

इस प्रकार भगवान जिनेन्द्र देव का पूजन करना चाहिये, जहाँ जहाँ से वे भगवान मोक्ष पधारे हैं उन निर्वाण भूमियों की पूजा करनी चाहिये। अतिशय क्षेत्रों की पूजा करनी चाहिये। स्याद्वाद रूप नयों से सुशोभित भगवान जिनेन्द्र देव की वाणी की पूजा करनी चाहिये। यथा योग्य रीति से सम्यग्दृष्टियों की पूजा व आदर सत्कार करना चाहिये,

और प्रति दिन शास्त्र की आज्ञा के अनुसार विधिपूर्वक जिन शासन देवों की पूजा करनी चाहिये ॥३७-३८॥

गुरूनैदंयुगीनाञ्च मुमुक्षुर्भक्तितो महेत् ।
रत्नत्रयाञ्चिता नग्नाः वीतरागाश्चते यतः ॥३९॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को भक्ति पूर्वक इस युग में व वर्तमान काल में होने वाले मुनियों की पूजा करनी चाहिये। क्योंकि वे वर्तमान के मुनिराज भी रत्नत्रय से सुशोभित हैं, वीतराग हैं और नग्न दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं ॥३९॥

स्वानुरागकरैर्द्रव्यै र्यथार्षं जिन मर्चयेत् ।
द्रव्यादृते न भावानां विशुद्धिर्जायते यतः ॥४०॥

इसके सिवाय अपने को अच्छा लगने वाले जो जो द्रव्य हैं उन्हीं से शास्त्र में कही हुई विधि के अनुसार भगवान की पूजा करनी चाहिये। भावार्थ—जिसको लड्डू अच्छे लगते हैं उन्हें भगवान के लिये शुद्ध लड्डू चढ़ाना चाहिये, जिनको गाना बजाना अच्छा लगता है उनको गा बजाकर पूजा वा स्तुति करनी चाहिये। इसका भी कारण यह है कि बिना किसी द्रव्य का आश्रय लिये जीवों के भावों की शुद्धता नहीं हो सकती। इस लिये किसी न किसी द्रव्य से ही भगवान की पूजा करनी चाहिये। ॥४०॥

भव्यैरित्थं सदा पूज्यास्ते पञ्चपरमेष्ठिनः।
नव देवा जिनेन्द्राणां चैत्यधर्मागमालयाः ॥४१॥

भव्य जीवों को प्रति दिन नव देवताओं का पूजन करना चाहिये। उन नव देवताओं में अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधु ये पाँच तो परमेष्ठी हैं तथा भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिमा, भगवान जिनेन्द्र देव का कहा हुआ दयामय धर्म, भगवान जिनेन्द्र देव का कहा हुआ आगम और भगवान जिनेन्द्रदेव का भवन वा जिन मन्दिर है। इसप्रकार ये नव देवता भव्य जीवों के द्वारा सदा पूज्य हैं ॥४१॥

माहात्म्य मर्चनस्याहो यजन्सङ्कल्पतो जिनम्।
क्षणं सौर्वीश्रियं प्राप्तो भेको हस्तिक्रमाहतः ॥४२॥

इस संसार में भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करने का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य है। देखो मेंडक ने भगवान की पूजा करने का संकल्प-मात्र किया था तथापि वह हाथी के पैर के नीचे दबकर मर जाने के कारण उसी समय स्वर्ग की अनुपम लक्ष्मी को प्राप्त होगया था ॥४२॥

जिनाङ्घ्रिद्वयमुद्दामकेशरैश्चर्चयन्ति ये।
दुष्टाष्टकर्मसन्तापः क्षणात्तेषां प्रशाम्यति ॥४३॥

जो पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों को घिसी हुई उत्तम केसर से चर्चन करते हैं उनके पद-नख पर

केसर लगाते हैं उनके महा दुष्ट-रूप आठों कर्मों से उत्पन्न हुआ संताप क्षणभर में ही शांत हो जाता है ॥४३॥

मीयतेऽनन्तसंसारो हीयते मोहतामसः ।
क्षीयते कृत्स्नकर्मौघो जिनाङ्घ्रिस्पर्शनाद्ध्रुवम् ॥४४॥

जो पुरुष प्रतिदिन भगवान जिनेन्द्र देव के चरण-कमलों का स्पर्श करते हैं उनका अनंत संसार भी परिमिति हो जाता है, मोह रूपी सब अन्धकार नष्ट हो जाता है और कर्मों का समुदाय सब नष्ट हो जाता है ॥४४॥

सिक्त्वा नीरसाज्य दुग्धदधिभिः पञ्चामृतैर्यैर्जिना—
न्द्रव्यैरष्टविधैर्महन्ति सुधियां सत्पञ्चकल्याणकम् ॥
तेषां रम्यमहोत्सवंभविक मुच्चैर्नाकिनस्तन्वते ।
विज्ञेया परमर्हतामपचितिर्लोकद्वये सौख्यदा ॥४५॥

जोपुरुष जल दूध दही घी इक्षुरस सर्वौषधि आदि पंचामृत से भगवान जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करते हैं तथा जो पुरुष अष्ट द्रव्य से भगवान जिनेन्द्रदेव के पंच कल्याणकों की पूजा करते हैं उन लोगों का मनोहर भारी उत्सव देव लोग स्वयं आकर करते हैं। इसप्रकार यह भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा दोनों लोकों में सुख देने वाली समझनी चाहिये ॥४५॥

इस प्रकार विद्वद्वर पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्रि विरचित षट्कर्म समुच्चय में देव पूजा का वर्णन करने वाला यह पहला अधिकार समाप्त हुआ ।

द्वितीयोऽधिकारः

यद्वाक्सुधां कर्णयुगेन पायं-
पायं जनो लक्षयति त्रिलोकीम्।
त्रैलोक्यनेत्रोत्सवगोचरोऽसौ,
नो मङ्गलं पुष्यतु शान्तिनाथः ॥१॥

जो शांतिनाथ भगवान् तीनों लोकों के नेत्रों को उत्सव करने वाले हैं और जिनकी वाणी रूपी अमृत को अपने कानों के द्वारा पी पी कर लोग तीनों लोकों तथा उनमें भरे हुए पदार्थों को जान लेते हैं ऐसे वे शांतिनाथ भगवान हम लोगों के लिये मंगल प्रदान करें ॥ १ ॥

रत्नत्रयाञ्चितस्सम्यग्वीतमोहो दिगम्बरः।
जिताक्षोभोगनिर्विण्णो ध्यानमग्नोऽपरिग्रहः ॥ २ ॥
रागद्वेषविनिमुक्तो निरारम्भस्तपोधनः ।
विरतः कृत्स्नमोहादेरुपास्यस्तादृशो गुरुः ॥ ३ ॥

जो मुनिराज सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी रत्नों से सदा सुशोभित रहते हैं, जो ममत्व व मोह से सर्वथा रहित हैं, जो दिगम्बर हैं, समस्त इन्द्रियों को जीतने वाले हैं, भोगोपभोगों से विरक्त हैं ध्यान में सदा लीन रहते हैं, परिग्रह से सर्वथा रहित हैं, रागद्वेष आदि विकारों से सर्वथा रहित हैं, जो कभी किसी प्रकार का आरम्भ नहीं रखते और जो समस्त मोहादिक से सर्वथा रहित हैं ऐसे महा तपस्वी गुरु ही सेवा व उपासना करने योग्य हैं ॥ २-३ ॥

तदुपास्तिर्विधातव्या नियोगेन शिवार्थिभिः ।
गुरुभक्तिरसामान्या भुक्ति मुक्तिप्रदायिनी ॥ ४ ॥

मोक्ष की इच्छा करनेवाले भव्य जीवों को नियम पूर्वक ऐसे गुरुओं को उपासना करनी चाहिये। क्योंकि यह गुरुओं की भक्ति असाधारण रीति से स्वार्गादि के भोग और मोक्ष को देने वाली है। ॥ ४ ॥

निस्पृहोऽखिलतत्त्वज्ञो विश्वबन्धुरहेतुकः ।
क्षमार्द्रो जातरूपोऽसौ तपस्वी कैर्न वन्द्यते ॥ ५ ॥

जो तपस्वी सर्वथा निस्पृह हैं, समस्त तत्वों के जानकार हैं, विना ही कारण संसार के प्राणी-मात्र के हित करने वाले बंधु हैं, जो दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं और क्षमा से जिनके परिणाम सदा आर्द्रीभूत रहते हैं ऐसे तपस्वियों के लिये भला कौन वन्दना नहीं करता है, अर्थात् ऐसे तपस्वियों को सभी बन्दना करते हैं ॥५॥

सूर्युपाध्यायसाधूना मर्चास्तवनवन्दना ।
योजयन्त्यचिरात्सत्त्वं लोक चूड़ामणौपदे ॥ ६॥

आचार्य उपाध्याय और साधुओं की पूजा करने से स्तुति करने से और वन्दना करने से शीघ्र ही ये प्राणी तीनों लोकों के शिखर पर जा विराजमान होते हैं ॥६॥

मोक्षहेतूपरेध्याने जायेते तुर्यकालवत् ।
न कलौ सर्वतो योगिनां संहननहानितः ॥ ७ ॥

नोपसर्गजयादीनि श्रुतज्ञानं न तादृशम् ।
नग्नमुद्रा परंवन्द्या रत्नत्रयान्वितत्वतः ॥ ८ ॥

मोक्ष के कारण धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान हैं। इनमें से शुक्लध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है और धर्मध्यान परंपरा कारण है तथा उत्कृष्ट रीति से ये दोनों ध्यान चतुर्थ काल में ही होते हैं। ये दोनों जैसे चतुर्थ काल में होते हैं वैसे इस पंचम कलिकाल में मुनियों के नहीं होते। इसका भी कारण यह है कि कलिकाल में संहनन की उत्कृष्टता नहीं होती, इसीलिये इस काल में मुनि लोग न तो घोर उपसर्ग जीत सकते हैं और न उनके चतुर्थ काल के समान श्रुतज्ञान होता है। इस कलिकाल के मुनि केवल रत्नत्रय से सुशोभित रहते हैं, इसीलिये यह रत्नत्रय से सुशोभित होने वाली उनकी नग्न मुद्रा ही सर्वोत्कृष्ट वंदनीय मानी जाती है ॥८-८॥

नत्वा साष्टाङ्गमाराध्य प्रातस्सायं तपोधनान् ।
येऽर्चयन्ति, लभन्ते ते पुत्रं मित्रं यशोधनम् ॥९॥

जो पुरुष प्रातः काल और सायंकाल दोनों समय मुनियों को अष्टांग नमस्कार कर और उनकी आराधना कर उनकी पूजा करते हैं वे पुत्र मित्रयश और धन सब को प्राप्त होते हैं ॥९॥

संयतापचितिः कार्या साहारदानमन्वहम् ।
यतिवृद्धौ सहोत्साहं प्रयतेतात्मशक्तितः ॥ १० ॥

भव्य जीवों को प्रति दिन मुनियों की पूजा करनी चाहिये प्रति दिन उनको आहार दान देना चाहिये और अपनी शक्ति के अनुसार उत्साह पूर्वक मुनियों की वृद्धि के लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥१०॥

स्वाध्यायावासशाला वा यतिभ्योऽयं सुधीःसृजेत् ।
ता महत्पुण्यबन्धाय जायन्ते यतिसन्निधौ ॥११॥

बुद्धिमान् श्रावकों को मुनियों के लिये स्वाध्याय के साधन ग्रन्थादिक देने चाहियें तथा निवास करने के लिये मठ व वसतिका बनवा देनी चाहिये। क्योंकि मुनियों का संबंध हो जाने से उन बनवाये हुए मठ वा वसतिका से तथा ग्रंथादिक स्वाध्याय के साधनों से महा पुण्य की प्राप्ति होती है ॥११॥

ग्रामारामजिनागारादौ वा संस्थापयेद्गुरून् ।
कलावरण्यवासो न मुनीनामार्षसम्मतः ॥१२॥

इस पंचम काल में मुनियों को गाँव के निकट किसी बगीचे में अथवा जिनालय में ठहराना चाहिये। क्योंकि आर्ष ग्रन्थों के अनुसार इस कलिकाल में मुनियों को निर्जन वन में रहने की आज्ञा नहीं है ॥ १२ ॥

रुग्णेषु क्षीणगात्रेषु बीभत्सेष्वपि साधुषु ।
दृक्पूतेषु च भव्यात्मा वैयावृत्यं समाचरेत् ॥१३॥

जो मुनि रोगी हैं अथवा जिनका शरीर क्षीण वा दुर्बल होगया है अथवा किसी रोगादिक के कारण जिनका शरीर

कुछ भयानक व दुर्गंध युक्त होगया है परंतु जो सम्यग्दर्शन से परम पवित्र हैं ऐसे मुनियों का भव्य जीवों को सदा काल वैयावृत्य करते रहना चाहिये ॥ १३ ॥

सहन्ते दुर्जनाक्रोशं शीतवर्षातपादिकम् ।
क्षुत्तृषावेगमध्यात्मतत्त्वचिन्ता परायणाः ॥१४॥
नानासनैर्विनिष्पण्णा ये योगाभ्यासतत्पराः ।
कायक्लेशं वितन्वानास्ते जयन्ति महर्षयः ॥१५॥

जो मुनि दुष्ट पुरुषों के गाली-गलौज आदि कठोर शब्दों को सदा सहन करते हैं, जो शीत की बाधा को, वर्षा की बाधा को तथा धूप की कठिन बाधा को सहन करते रहते हैं, जो भूख, प्यास आदि बाधा को सहन करते रहते हैं, जो सदा काल शुद्ध-आत्मतत्त्व के चिंतवन करने में लीन रहते हैं, जो अनेक आसनों से विराजमान रहते हैं, ध्यान का अभ्यास करने में सदा तत्पर रहते हैं और जो कायक्लेश को सदा काल धारण करते हैं ऐसे वे मुनिराज सदा काल जयशील रहें ॥१४-१५॥

ध्याननिष्ठा महर्षीणा महो येषामनुत्तरा ।
चचालोपद्रवापाते मनोमेरुर्न जातुचित् ॥ १६ ॥

देखो मुनियों की ध्यान निष्ठा व ध्यान की लीनता सर्वोत्कृष्ट होती है । क्योंकि अनेक उपद्रवों के आने पर भी उनका मनरूपी मेरु पर्वत कभी चलायमान नहीं होता ॥ १६ ॥

दारुणानुपसर्गान्ये सिंहवृत्त्या जयन्ति वै ।
गुरुव स्सन्ति ते धन्या, जगद्वन्द्या यतीश्वराः ॥१७॥

जो मुनिराज अपनी सिंह वृत्ति के कारण अनेक दारुण व कठिन उपसर्गों को जीतते रहते हैं वे जगद्वन्द्य गुरु सदा धन्य कहलाते हैं ॥ १७ ॥

इति व्यावर्णनेनाय मुत्सहेद्गुरुसार्थकम् ।
तपोध्याननिमग्नं स्यात्तेषां चेतोयतः स्वतः॥१८॥

यद्यपि गुरुओं का मन अपने आप तप और ध्यान में सदा लीन रहता है तथापि ऊपर लिखे अनुसार मुनियों की स्तुति व वर्णन कर सदा काल उनको उत्साहित करते रहना चाहिये ॥ १८ ॥

यथास्वं विनयाद्यैर्ये न सत्कुर्वन्ति संयतान् ।
प्राप्नुवन्ति न श्रेयांसि ते छिद्राणां दिदृक्षवः ॥१९॥

जो गृहस्थ उनके छिद्र ही देखते रहते हैं और यथायोग्य रीतिसे विनय नमस्कार आदि के द्वारा उन मुनियों का आदर सत्कार नहीं करते उन लोगों का कल्याण कभी नहीं हो सकता है ॥ १९ ॥

वैयावृत्यसमाधारो दशधा सूरिसम्मतः ।
आचार्यादिप्रभेदेन ग्रहस्थस्तं प्रसाधयेत् ॥२०॥

आचार्यों ने आचार्य आदि के भेद से वैयावृत्य के दश भेद बतलाये हैं। सद्गृहस्थों को वह दशों प्रकार का वैयावृत्य सदा काल करते रहना चाहिये ॥ २० ॥

रत्नत्रयं तपोवीर्यं पञ्चाचारं गणाधिपः ।
परेभ्य आचरयति स आचार्यः प्रशस्यते ॥२१॥

जो मुनि दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार, तप आचार इन पाँचो आचारों को स्वयं पालन करते हैं और अन्य मुनियों से पालन कराते हैं उनको आचार्य कहते हैं ॥ २१ ॥

वाग्मोस्याद्वादतत्त्वज्ञो लोकविद्बहुयुक्तिवाक् ।
शिष्यानध्यापयन्धीर उपाध्यायः कुशाग्रधीः ॥२२॥

जो मुनि यथार्थ वक्ता होते हैं, स्याद्वादनयों के द्वारा समस्त तत्त्वों के जानकार होते हैं, लोकाकाश और उसमें भरे हुए समस्त पदार्थों के जानकार होते हैं, जिनकी वाणी अनेक युक्तियों से भरपूर रहती है, जो धीर वीर होते हैं, जिनकी बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण होती है और जो मुख्यतया शिष्यों को पढ़ाते रहते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं ॥ २२ ॥

विशेषेणोपवासादितपस्तन्वन्विचक्षणः ।
कायक्लेशमरं कुर्वन् तपस्वी मुनिसत्तमः ॥२३॥

जो अत्यंत चतुर और उत्तम मुनि विशेष करके उपवास आदि तपश्चरण को करते रहते हैं और कायक्लेश को सहन करते रहते हैं वे मुनि तपस्वी कहलाते हैं ॥ २३ ॥

शिक्षाशीलः श्रुतज्ञाने व्रताचरणतत्परः ।
ज्ञानाभ्यासानुरक्तोऽयं शिष्यःशैक्षो दिगम्बरः ॥२४॥

जो दिगम्बर मुनि सदा काल श्रुतज्ञान के बढ़ाने में लगे रहते हैं, साथ में व्रतों के पालन करने में भी तत्पर रहते हैं और ज्ञान के अभ्यास करने में सदा लीन रहते हैं ऐसे शिष्यमुनियों को शैक्ष्य मुनि कहते हैं ॥ २४ ॥

क्लिष्टकायोऽतिबीभत्स्यो दद्रुगण्डकफादिना ।
रुजान्वितः सदाधीरो ग्लानसंज्ञो महाव्रती ॥२५॥

जो मुनि दाद फोडा कफ खाँसी इत्यादि अनेक रोगों से पीड़ित रहते हैं, जिनके शरीर में कुछ न कुछ क्लेश बना ही रहता है और इसीलिए जो कुछ ग्लानि युक्त दिखलाई पड़ते है ऐसे धीर वीर महाव्रती मुनि ग्लान नाम के मुनि कहलाते हैं ॥ २५ ॥

साक्षाद्धि मोक्षमार्गं स्ववपुषोद्भासयन्ति ये ।
सन्ततिर्या स्थविराणां गणस्तेषामुदाहृतः ॥२६॥

जो मुनि केवल अपने निर्विकार दिगम्बर शरीर से ही साक्षात् मोक्षमार्ग का स्वरूप निरूपण करते हैं ऐसे वृद्ध मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं ॥२६॥

दीक्षकाचार्यवर्यस्य निर्ग्रन्था शिष्यसन्ततिः ।
कुलं तल्लोकसम्पूज्यं वैयावृत्त्यार्हमीडितम् ॥२७॥

जो दीक्षा देने वाले सर्वोत्कृष्ट आचार्य हैं उनकी दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाली शिष्य परंपरा को कुल कहते हैं, वह कुल भी तीनों लोकों के द्वारा पूज्य होता है और वैयावृत्य करने योग्य होता है ॥२७॥

चातुर्वर्ण्यश्रवणानां निवहो लोकवन्दितः ।
सङ्घश्चतुर्विधो ज्ञेयो धर्मसन्ततिप्रत्ययः ॥२८॥

ऋषि, अनगार, साधु और यति इन चारों प्रकार के मुनियों के समुदाय को संघ कहते हैं। लोकवन्दनीय यह चारों प्रकार का संघ धर्म की परंपरा को बढ़ाने वाला है ॥२८॥

ध्याननिष्ठस्तपोरक्तः पञ्चाचारविशुद्धधीः ।
चिरप्रव्रजितः साधुर्जिनेन्द्रागमसम्मतः ॥२९॥

जो मुनि ध्यान करने और तपश्चरण करने में सदा लीन रहता है, जिसकी बुद्धि पंचाचार पालन करने से अत्यन्त विशुद्ध हो गई है और जिसको दीक्षा लिये बहुत दिन हो गये हैं ऐसे मुनियों को भगवान जिनेन्द्रदेवके आगम में साधु कहा गया है ॥२९॥

जगन्मान्यकुले जातो जिनपादद्वयाश्रितः ।
सज्जाति कुलसंशुद्धो मनोज्ञो लोकसम्मतः ॥३०॥

जो मुनि संसार भर में माननीय कुल में उत्पन्न हुए हैं, जो सदा काल भगवान जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों के ही आश्रय में रहते हैं जो सज्जाति और सत्कुल से शुद्ध हैं तथा जो समस्त

लोगों के द्वारा माननीय माने जाते हैं ऐसे मुनियों को मनोज्ञ कहते हैं ॥३०॥

गुरुयष्टैवमेतेषु दशभेदेषु भक्तितः ।
वैयावृत्यं समाकुर्यादनन्तसुखलब्धये ॥३१॥

गुरु पूजा करने वाले गृहस्थों को मोक्ष रूप अनंत सुख की प्राप्ति के लिये आचार्य आदि के भेद से दश प्रकार के मुनियों का भक्ति पूर्वक वैयावृत्य करना चाहिये ॥३१॥

शुश्रूषयैवमुत्कण्ठः सुगुरूननुरञ्जयेत् ।
यथास्वमर्च्चयेद्भक्त्या क्षुल्लकाहिल्लकानपि ॥३२॥

इसप्रकार सेवा शुश्रूषा करके व मुक्त कंठ से प्रशंसा करके गुरुओं का चित्त प्रसन्न करना चाहिए तथा भक्ति-पूर्वक यथायोग्य रीति से क्षुल्लक, ऐलक, क्षुल्लिका, अर्जिका आदि की भी पूजा करनी चाहिए ॥३२॥

ज्ञानध्यानतपोऽनुरक्तमतयः पाण्डित्यधुर्या जिनाः,
पञ्चाचारधराः प्रशान्तिनिलया भव्यात्मनामाश्रयाः ॥
क्षेमं नः प्रथयन्त्वशेषगुरवोनिर्ग्रन्थमुद्रान्विताः,
श्रीमन्तस्त्रिजगद्विवन्द्यचरणास्ते कुन्दकुन्दादयः ॥३३॥

इति श्री पण्डित श्यामसुन्दरलाल शास्त्रि विरचिते षट्कर्मसमुच्चये गुरूपास्तिवर्णनो नामा द्वितीयोऽधिकारः

जिनकी बुद्धि ज्ञान ध्यान और तपश्चरण में सदा लीन रहती है जो विद्वानों में भी परम श्रेष्ठ हैं, मोहनीय को नाश करने वाले हैं, पाँचों आचारों को पालने में निमग्न रहते हैं, जो परम शांति के स्थान हैं भव्य जीव जिनका सदा आश्रय लेते रहते हैं जो निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण करते हैं, जो तपश्चरण की लक्ष्मी से सदा सुशोभित रहते हैं और तीनों जगत के जीव जिनके चरण कमलों की वंदना करते हैं ऐसे कुंद कुंद आदि समस्त मुनि हम लोगों का परम कल्याण करें ॥३३॥

इसप्रकार विद्वद्वर पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्रि विरचित
षट्कर्मसमुच्चय नाम के ग्रंथ में गुरूपास्ति को
वर्णन करने वाला यह दूसरा
अधिकार समाप्त
हुआ ।

तृतीयोऽधिकारः

सिद्धं विबुद्धं हतकर्मजालं,
दृष्टात्मसारं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।
संसारवार्धिं प्रविलङ्घ्य मुक्तं,
चन्द्रप्रभं न्यक्कृतचन्द्रमीडे॥१॥

जो श्री चन्दप्रभ भगवान सिद्ध हैं, अनंत ज्ञानी हैं, समस्त कर्मों को नाश करने वाले हैं, जिन्होंने अपने आत्मा का शुद्ध चैतन्य स्वरूप सार प्राप्त कर लिया है जिनको स्वर्ग के समस्त इन्द्र आकर नमस्कार करते हैं, संसार रूपी महा सागर से पार होकर मोक्ष में जा विराजमान हुए हैं और जिन्होंने अपनी सुन्दरता से पूर्णमासी के चन्द्रमा को भी तिरस्कृत कर दिया है ऐसे भगवान चन्द्रप्रभ की मैं स्तुति करता हूँ ॥१॥

सर्वविद्वीतरागोक्तं सत्त्वमात्रोपकारकम् ।
दुर्नीति नाशनं शास्त्रमनेकान्तप्रकाशनम् ॥२॥

जो सर्वज्ञ और वीतराग के द्वारा निरूपण किया गया है जो जीव मात्र का हित करने वाला है, जो मिथ्या नीति का नाश करने वाला है और अनेकान्त को प्रकाशित करने वाला है उसको शास्त्र कहते हैं ॥२॥

तत्स्वाध्यायो विधातव्यः संयमव्रतशुद्धये ।
संवेगाय तपोवृद्धयै संशयघ्नो मुमुक्षुभिः ॥३॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले गृहस्थों को अपने संयम और व्रतों को शुद्ध रखने के लिये, संवेग धारण करने के लिये और

तपश्चरण को बढ़ाने के लिये समस्त संशयों को दूर करने वाला इन ग्रन्थों का स्वाध्याय अवश्य करते रहना चाहिये ॥३॥

क्रमन्ते मुक्तिवर्त्मन्युत्सहन्तेऽध्यात्मचिन्तने ।
स्वादयन्त्यचिरादात्मरसं स्वाध्यायतत्पराः ॥४॥

जो पुरुष प्रतिदिन स्वाध्याय करने में तत्पर रहते हैं वे मोक्षमार्ग में चलते रहते हैं, अपने शुद्ध आत्मा के चिन्तवन करने में उत्साहित होते रहते हैं और अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप रस का पान करते रहते हैं ॥४॥

आस्तिक्यभावनोपेतो दयाशीलः क्षमापरः ।
सम्यग्जिनोपदिष्टास्थः सुधी स्वाध्यायमाचरेत् ॥५॥

जो भव्य आस्तिक्य रूप भावनाओं को धारण करता है, दयावान् है, क्षमा को धारण करता है और भगवान् जिनेन्द्रदेव के उपदेश में अच्छी तरह स्थिर रहता है ऐसे बुद्धिमान् श्रावक को सदा काल स्वाध्याय करते रहना चाहिये ॥५॥

परमास्था विधेयात्र कात्स्न्र्येनाऽऽस्तिकबुद्धिभिः ।
नाज्ञलोकपरीक्ष्यं तत्तत्वं सूक्ष्ममतीन्द्रियम् ॥६॥

आस्तिक्य बुद्धि को धारण करने वाले श्रावकों को भगवान् के कहे हुए तत्वों में पूर्णरूप से परम श्रद्धा धारण करनी चाहिये इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए तत्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं और इन्द्रिय ज्ञान के अगोचर

हैं तथा इसीलिये अज्ञानी जीव कभी उनकी परीक्षा नहीं कर सकते ॥६॥

विवदन्ते च कुतर्कैः क्रमते वा परीक्षितुम् ।
दुराशयवशः प्राणी भजन्क्लेशान्विमज्जति ॥७॥

इस संसार के कितने ही प्राणी अपने दुराशय के वशीभूत होकर तर्क वा कुतर्क के साथ उन तत्त्वों में विवाद करते हैं उनकी परीक्षा के लिये उपक्रम करते हैं इस प्रकार अनेक क्लेशों को सहन करते हुए संसार समुद्र में डूबते हैं ॥७॥

वाचना पृच्छनाम्नायानुप्रेक्षाधर्मदेशनाः ।
पञ्चभेदोऽयमाख्यातः स्वाध्यायस्तत्प्रणेतृभिः ॥८॥

भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से पाँच भेद बतलाये हैं ॥८॥

अनुयोगचतुष्कान्यतमग्रन्थप्रवाचनम् ।
आदिष्टा वाचनाचार्यैरास्थयाऽशुद्धिवर्जितम् ॥९॥

चारों प्रकार के अनुयोगों में से किसी अनुयोग के ग्रन्थों को अशुद्धियों से रहित श्रद्धापूर्वक बाँचना, पढ़ाना वाचना नाम का स्वाध्याय है ॥९॥

जिनार्षादेशिवचसां प्रश्नः यस्तु परस्परम् ।
परामर्शोऽत्र विद्वद्भिः पृच्छना साभिधीयते ॥१०॥

भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए ऋषिप्रणीत वचनों में विद्वानों के द्वारा जो परस्पर विचार किया जाता है ज्ञानवृद्धि के लिये प्रश्न किये जाते हैं उसको पृच्छना नाम का स्वाध्याय कहते हैं ॥१०॥

आर्षसूत्रतदर्थानामसकृद् घोषणं मुदा।
नातिद्रुतं नातिवेग माम्नायः प्रोच्यते जिनैः ॥११॥

प्रसन्न चित्त होकर न तो बहुत जल्दी और न बहुत धीरे ऋषि प्रणीत सूत्रों को तथा उनके अर्थों को बार बार घोकना याद करना भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा आम्नाय नाम का स्वाध्याय कहलाता है ॥११॥

सर्वज्ञोदिततत्त्वानां मनोऽभ्यासेन चिन्तनम्।
श्रद्धयास्तिक्यभावेन सानुप्रेक्षा समाहिता ॥१२॥

अपने आस्तिक्य रूप परिणामों से तथा श्रद्धा पूर्वक भगवान् सर्वज्ञदेव के कहे हुए तत्त्वों को अपने मनमें बार बार चितवन करना, अभ्यास रूप से चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय कहलाता है ॥१२॥

यथार्षं दुर्मतध्वान्त्यै निर्ममत्वाप्रमादतः।
धर्मकथाद्यनुष्ठानं ज्ञेया धर्मोपदेशना ॥१३॥

मिथ्या बुद्धि को दूर करने के लिये ममत्व रहित और प्रमाद रहित होकर आर्ष ग्रन्थों के अनुसार धार्मिक कथाओं

का कहना वा उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय कहलाता है ॥१३॥

यथाशक्ति ततोऽभ्यस्येत्स्वाध्यायेऽन्यतमं बुधः ।
सम्यक्स्वाध्यायनिर्मग्नः सौख्यमात्मीय मश्नुते ॥१४॥

बुद्धिमानों को इन पाँचों प्रकार के स्वाध्यायों में से अपनी शक्ति के अनुसार किसी एक स्वाध्याय का अभ्यास करना चाहिये क्योंकि स्वाध्याय में अच्छी तरह लीन रहने वाला पुरुष अपने आत्म जन्य सुख को प्राप्त होता है ॥१४॥

रम्येतराखिलार्थेषु रागद्वेषमतेस्ततः ।
जायतेऽप्रणिधानत्वं शास्त्राभ्यासं वितन्वतः ॥१५॥

जो पुरुष रात दिन जैन शास्त्रों का स्वाध्याय करता रहता है वह इष्ट अनिष्ट रूप समस्त पदार्थों से राग और द्वेष दोनों को छोड़ देता है । भावार्थ—रागद्वेष का त्याग कर वह निराकुल हो जाता है ॥१५॥

स्वाध्यायं तन्वतो नित्यं नियोगेन दिने दिने ।
अकुतोभीतितामुष्य सुतरां जायतेऽचिरात् ॥१६॥

जो पुरुष प्रतिदिन नियम पूर्वक स्वाध्याय करता रहता है वह पुरुष बहुत शीघ्र अपने आप सर्वथा निर्भय हो जाता है ॥१६॥

जिनेन्द्रं जञ्जपूकेन मोहमल्लं जिगीषुणा ।
स्वाध्यायोऽयं समाधेयोऽष्टाङ्गसम्यक्त्व शुद्धये ॥१७॥

जो पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेव का जप करना चाहता है और मोह रूपी मल्ल को जीतना चाहता है उसको अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिये यह स्वाध्याय करना चाहिये ॥१७॥

स्वाध्यायपञ्चके चात्र वाचनं सर्वतोमुखम् ।
व्यञ्जनाद्यष्टधा शुद्ध्यान्वितं कल्मषनाशनम् ॥१८॥

इन पाँचों प्रकार के स्वाध्यायों में वाचना व पढ़ाना नाम का स्वाध्याय सबसे मुख्य है और समस्त पापों को नाश करने वाला है। यह वाचना नाम का स्वाध्याय व्यंजन शुद्धि आदि आठ प्रकार की शुद्धि पूर्वक करना चाहिये ॥१८॥

सम्यग्ज्ञानं श्रुतज्ञानं मिथ्याटोपविनाशनम् ।
चतुर्विधं महामह्यं स्वाध्यायार्हं प्रकीर्तितम् ॥१९॥

अथवा मिथ्यात्व को नाश करने वाला, महापूज्य और सम्यग्ज्ञान स्वरूप चार प्रकार का श्रुतज्ञान स्वाध्याय करने योग्य बतलाया है। भावार्थ—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से श्रुतज्ञान के चार भेद हैं, ये सब स्वाध्याय करने योग्य हैं ॥१९॥

लोकाचरणमशेषं चरितं पुण्यं त्रिषष्टि पुरुषाणाम् ।
यत्रोदितमाचार्यैरार्षः प्रथमानुयोगाख्यः ॥२०॥

जिसमें समस्त लोकाचार का वर्णन हो, तिरेसठ शलाका के महापुरुषों के पुण्य रूप चरित्रों का वर्णन हो, इस प्रकार

आचार्य के कहे हुये जिन ग्रन्थों में वर्णन हो उन ग्रन्थों को प्रथमानुयोग कहते हैं ॥२०॥

द्वीपवार्धयो लोकालोकौ स्वर्मर्त्यलोकनरकाणि ।
करणानुयोगशास्त्रे सर्वं विस्तारतश्चोक्तम् ॥२१॥

जिनमें द्वीप समुद्रों का वर्णन हो, लोक अलोक का वर्णन हो, स्वर्गलोक, मनुष्यलोक और अधोलोक व नरकों का वर्णन हो ऐसे शास्त्रों को करणानुयोग कहते हैं अर्थात् इन सब का वर्णन करणानुयोग में रहता है ॥२१॥

गृहिणामणु व्रतादिश्चरणं सकलं तपोधनानां वा ।
भणितं यत्र जिनोक्तं, ग्रन्थश्चरणानुयोगस्थः ॥२२॥

जिन ग्रन्थों में श्रावकों के अणुव्रतों का वर्णन हो तथा मुनियों के सकल चारित्र का वर्णन हो ऐसे शास्त्रों को भगवान जिनेन्द्रदेव चरणानुयोग कहते हैं ॥२२॥

षड् द्रव्याणि जिनोदित सप्तपदार्थाननादिसिद्धान्वा ।
द्रव्यानुयोगशास्त्रं सम्यग्गमयत्यनेकान्तम् ॥२३॥

जीवादिक छहों द्रव्यों का स्वरूप तथा अनादि काल से चले आये और भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए सातों तत्वों का स्वरूप और अनेकान्त का स्वरूप द्रव्यानुयोग शास्त्र से जाना जाता है ॥२३॥

चतुष्टयानुयोगेऽस्मिन् शास्त्रं यत्सूरिसम्मतम् ।
स्वमतिः स्थीयते चात्र गृहीत्वाभ्यास माचरेत् ॥२४॥

इन चारों प्रकार के अनुयोग शास्त्रों में से जिस अनुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय करने के लिये आचार्य आज्ञा दें अथवा जिस अनुयोग के शास्त्रों में अपनी बुद्धि स्थिर हो, उसी अनुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये ॥२४॥

स्वाध्यायेनैव दुर्ध्यानद्वयं प्रच्यवतेऽशुभम् ।
विस्फुरन्त्यचिरात्तेन संवेगप्रशमादयः ॥२५॥

इन ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से आर्तध्यान और रौद्र-ध्यान दोनों अशुभ ध्यान नष्ट हो जाते हैं और प्रशम संवेग आदि सम्यग्दर्शन के गुण सब शीघ्र ही विकसित हो जाते हैं ॥२५॥

हृन्मन्दिरेऽस्त मिथ्यात्वे पापान्धाशश्चतुर्विधः ।
तेनैव प्रज्ज्वलत्याशु सुधर्मध्यानदीपकः ॥२६॥

जिसमें से मिथ्यात्व हट गया है ऐसे हृदय रूपी मन्दिर में पापान्धकार को कवलित करने वाला चार प्रकार का श्रेष्ठ धर्मध्यान रूपी दीपक इस स्वाध्याय से ही प्रज्वलित होता है। भावार्थ—स्वाध्याय करने से चतुर्विध धर्म ध्यान की प्राप्ति होती है और धर्म ध्यान से पाप पटल नष्ट हो जाता है ॥२६॥

न स्वाध्यायावलग्नस्य जायन्ते सप्तभीतयः ।
कर्मात्मैकत्वविज्ञत्वा द्वारिमग्नाब्जपत्रवत् ॥२७॥

जो पुरुष स्वाध्याय करने में सदा लीन रहता है, उसको सातों प्रकार के भयों में से कोई किसी प्रकार का भय नहीं हो

सकता क्योंकि स्वाध्याय करने वाला पानी में डूबे हुए कमल के पत्र के समान कर्म और आत्मा की एकता को अच्छी तरह जान लेता है। भावार्थ—जिस प्रकार कमल पत्र पानी में रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार स्वाध्याय करने वाला अपने आत्मा को शरीर से सर्वथा भिन्न समझता है। और इसीलिये उसको किसी प्रकार का भय नहीं होता ॥२७॥

नेहलोकभयं तावन्निःसङ्गत्वान्निजात्मनः।
सदसत्कर्म तन्त्रत्वाद्विभूतेः सुखदुःखयोः ॥२८॥

स्वाध्याय करने वाला पुरुष इन लौकिक विभूतियों को शुभ अशुभ कर्मों के आधीन समझता है, सुख और दुःखों को भी शुभ अशुभ कर्मों के आधीन समझता है और अपने आत्मा को इन सब विभूतियों से इन्द्रिय जन्य सुख दुःख से तथा समस्त परिग्रहों से सर्वथा भिन्न समझता है। इसीलिये उसको इस लोक सम्बन्धी भय कभी नहीं हो सकता ।.२८।

स्वीयकर्मविपाकेन आत्मायं सदसद्गती।
परत्रैत्यस्य नातः स्यात्साध्वसं पारलौकिकम् ॥२९॥

स्वाध्याय करने वाला समझता है कि यह आत्मा अपने अपने कर्म के उदय से शुभ अथवा अशुभ गति में जाकर उत्पन्न होता है, इसीलिये उसको परलोक सम्बन्धी भय कभी नहीं हो सकता ॥२९॥

तनो रेवात्मनो नैव वातपित्तकफादयः ।
विदद्रुकच्छुसिध्मानि न कुर्युर्वेदनाभयम् ॥३०॥

इसी प्रकार स्वाध्याय करने वाला समझता है कि वात, पित्त, कफ, दाद, खाज, कोढ़ आदि जितने रोग हैं वे सब शरीर के ही होते हैं, आत्मा के कभी नहीं हो सकते, इसीलिये उसको वेदना का भय कभी नहीं होता है ॥३०॥

विद्युद्वेगमिवैश्वर्यं नश्वरं केन रक्ष्यते ।
हीयते नात्मबोधादिर्नातोऽस्यात्राणसाध्वसम् ॥३१॥

स्वाध्याय करने वाला जानता है कि यह सांसारिक सब ऐश्वर्य बिजली के समान क्षण भर में ही नष्ट होने वाला है, इसलिये इसकी रक्षा कोई नहीं कर सकता। परन्तु आत्मा के ज्ञानादिक गुण कभी नहीं घट सकते। यही समझ कर उसको अरक्षित रहने का भय कभी नहीं होता है ॥३१॥

नाप्यगुप्तिभयं चास्याऽभावाद्दृङ्मोहकर्मणः ।
वस्तुरूपं स्वतोगुप्तं सुदृष्टिर्वेत्ति तत्त्वतः ॥३२॥

स्वाध्याय करने वाले के दर्शन मोहनीय कर्म का अभाव रहता है, इसीलिये उसको अगुप्ति भय कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टी अच्छी तरह समझता है कि पदार्थों का स्वरूप स्वतः गुप्तरूप है फिर अगुप्ति का भय कैसा ? ॥३२॥

मृत्युः प्राणात्ययस्तत्र शरीरस्यैव, जातुचित् ।
नात्मनोऽनन्त वीर्यस्य, मृत्युभीति मतस्त्यजेत् ॥३३॥

स्वाध्याय करने वाला यह भी समझता है कि प्राणों का नाश होना मृत्यु है और वह मृत्यु शरीर की ही होती है, अनन्त वीर्य को धारण करने वाले आत्मा की मृत्यु कभी नहीं होती। यही समझते हुए मृत्यु के भय को सर्वथा त्याग कर देता है ॥३३॥

काकतालीयवत्प्राप्याद्भयादाकस्मिकात्क्षणात् ।
जिनार्षाभ्यासतत्त्वज्ञो भेदज्ञानी बिभेति न ॥३४॥

स्वाध्याय करने वाला पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए शास्त्रों को जानता है तथा तत्वों के यथार्थ स्वरूप को जानता है और आत्मा तथा शरीर के भेद को अच्छी तरह जानता है, इसीलिये वह पुरुष काकतालीय के समान क्षण भर में ही प्राप्त होने वाले आकस्मिक भय से भी कभी नहीं डरता है ॥३४॥

सप्तभीतीरियत्येवं न जिनागमकोविदः ।
दृङ्मोहफणिना दष्टा, बिभ्यतीह कुदृष्टयः ॥३५॥

इस प्रकार जिनागम के रहस्य को अच्छी तरह जानने वाला पुरुष इन सातों भयों से कभी नहीं डर सकता। जिन लोगों के ऊपर दर्शन मोहनीय कर्म रूपी सर्प का विष चढ़ रहा है, ऐसे मिथ्यादृष्टी पुरुष ही इन सातों भयों से डरते रहते हैं, सम्यग्दृष्टी कभी नहीं डरते ॥३५॥

स्याद्वादसूक्त्यमृतवारिधिमप्रमेय,
मस्मादृशो जिनप ! मातुमलं कथंस्यात् ।

युक्त्याहमप्रतिहतानि ततस्त्वदीया-
न्याज्ञाप्रमाणवचनान्युररीकरोमि ॥३६॥

हे भगवन्! स्याद्वाद रूप श्रेष्ठ युक्तियों से भरा हुआ यह जिनागम रूपी अमृत का समुद्र अनन्त है और इसीलिये मेरे समान बालक इसका प्रमाण कभी नहीं कर सकता। अतएव हे नाथ! जो युक्तियों के द्वारा कभी किसी प्रकार बाधित नहीं हो सकते, ऐसे आपके वचनों को आज्ञा प्रमाण मान कर ही मैं स्वीकार करता हूँ ॥३६॥

इत्येवं परमास्थया जिनवचोऽङ्गीकृत्य ये धीधनाः,
स्याद्वादामलवारिधौ शुचितमे सुस्नानमातन्वते।
नानानर्घ्यमनोज्ञरत्ननिचयं संपाद्य ते निस्तुलं,
कल्याणं कलयन्त्यनन्तमपरं हत्वाष्टकर्मव्रजम् ॥३७॥

इस प्रकार जो बुद्धिमान् परम श्रद्धा पूर्वक भगवान् के वचनों को मानते हैं और अत्यन्त पवित्र ऐसे इस स्याद्वाद रूप निर्मल समुद्र में स्नान करते रहते हैं, वे पुरुष अनेक प्रकार के उपमा रहित बहुमूल्य मनोहर रत्नों को प्राप्त करते हैं तथा अपने समस्त आठों कर्मों को नष्ट कर अनन्त और लोकोत्तर कल्याणों को प्राप्त होते हैं। भावार्थ—मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं ॥३७॥

इस प्रकार विद्वद्वर पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्री विरचित
षट्कर्म समुच्चय में स्वाध्याय को वर्णन करनेवाला
यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥

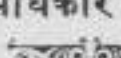

चतुर्थोऽधिकारः

येनेयमप्रतिहता परमार्थसिद्धा,
स्याद्वादतत्त्वसरणि र्महसाभ्यधायि।
तं शीतलं जिनवरं शिरसावनम्य,
सत्संयमं तदुदितं गृहिणां प्रवक्ष्ये ॥१॥

जिन शीतलनाथ भगवान् ने अपने ज्ञानरूप प्रताप से कभी किसी से वाधित न होने वाले और परमार्थ को सिद्ध करने वाले स्याद्वाद रूप तत्वों का निरूपण किया है, ऐसे शीतलनाथ भगवान् को मैं मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ और उन्हीं शीतलनाथ के द्वारा कहे हुए गृहस्थों के संयम का स्वरूप निरूपण करता हूँ ॥१॥

न रुक्शान्त्यै यथास्थाज्ञे विनानुष्ठानमौषधेः।
तथाचारविहीनस्य नालं ज्ञानं स्वसिद्धये ॥२॥

किसी औषधि पर श्रद्धा रखने वाला और उसको जानने वाला पुरुष जब तक उसको खाता नहीं तब तक उसका रोग कभी दूर नहीं हो सकता। इसी प्रकार विना चारित्र पालन किये सम्यग्ज्ञान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती ॥२॥

सकलाचारलिप्सुर्यः प्रत्याख्यानकषायगः।
न क्षमोऽस्मिंस्तदेतस्मै प्रोच्यते देश संयमः ॥३॥

जो सद्गृहस्थ सकल चारित्र को धारण करना चाहता है परन्तु प्रत्याख्यान कषाय के वशीभूत होने से उस सकल चारित्र को धारण नहीं कर सकता ऐसे सद्गृहस्थ के लिए देश संयम का निरूपण करते हैं ॥३॥

पञ्चक्षीरिफलानां प्रत्याख्यानं समद्यमधुमांसैः ।
गृहिमूलगुणा भणिता जिनेन्द्रमङ्गारकैरष्टौ ॥४॥

भगवान जिनेन्द्रदेव ने गृहस्थों के लिए पाँच उदंबर फलों का त्याग, मद्य का त्याग, मांस का त्याग और शहद का त्याग ये आठ मूल गुण बतलाये हैं ॥४॥

दिष्टास्तरु मूलमिव गृहिणां मूलाः गुणा जिनैरित्थम् ।
जागर्ति न सम्यक्त्वं यतोहि तेषां विनातेभ्यः ॥५॥

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ वृक्ष के बने रहने में सहायक होती हैं उसीप्रकार ये मूलगुण भी श्रावकों की क्रियाओं के पालन करने में सहायक होते हैं। जिस प्रकार जड़ के विना वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार विना मूल गुणों के सम्यक्-दर्शन भी स्फुरायमान नहीं होता हैं ॥५॥

श्रावकव्यपदेशार्हो गृही जातु न तैर्विना ।
जोषितानतिचारं तान्यमीकृत्या भवक्षयात् ॥६॥

इन मूलगुणों के विना यह गृहस्थ श्रावक नहीं कहला सकता। इसलिए जब तक यह जन्ममरण रूप संसार नष्ट न हो जाय तब तक इन मूलगुणों को अतिचार रहित नियमपूर्वक प्रीति से पालन करते रहना चाहिए ॥६॥

मूलान्गुणान्प्रपद्यैव माप्तागमगुरून् भजन्।
भवत्येष स्फुरद्वृत्तः संयमादानसम्मुखः ॥७॥

जब यह गृहस्थ मूल गुणों को धारण कर लेता है और देवशास्त्र गुरु की सेवा करता रहता है तभी वह पुरुष चारित्र धारण करने की इच्छा करता हुआ संयम धारण करने के सन्मुख होता है ॥७॥

प्रतिमारूपमभ्यासरूपं यद्वा व्रतं भवेत्।
एकादशत्रिभेदे ते द्वित्रिधो गृहिसंयमः ॥८॥

उस व्रत के दो भेद हैं—एक प्रतिमारूप व्रत और दूसरे अभ्यास करने रूप व्रत। प्रतिमा रूप व्रत के ग्यारह भेद हैं और अभ्यास रूप व्रत के तीन भेद हैं। इस प्रकार गृहस्थों का संयम दो प्रकार का है ॥८॥

अणुगुणशिक्षासंज्ञैर्व्रतैरदोषैस्सदैव निःशल्यम्।
पञ्चत्रिचतुर्भेदैः साध्या सल्लेखना भव्यैः ॥९॥

भव्य जीवों को सबसे पहले शल्य रहित होकर निर्दोष व अतिचार रहित पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रतों का पालन करना चाहिए और सल्लेखना का साधन करना चाहिए ॥९॥

विरतस्त्रसहिंसातो यतमानः स्थावराद्वधाच्चापि।
प्रथमोऽयमणुव्रतिकः साङ्कल्पिकहिंसनाद्विरतः ॥१०॥

जो गृहस्थ त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग कर देता है तथा स्थावर जीवों की हिंसा का भी बचाव रखता है वह प्रथम अहिंसा अणुव्रत को पालन करने वाला अहिंसा अणुव्रती कहलाता है ॥१०॥

जायन्ते विफलानि व्रतान्यशेषानि हिंसतो नियमात् ।
तस्माद्धि मुमुक्षूणां हिंसाविरतौ परं श्रेयः ॥११॥

यदि कोई श्रावक अन्य अनेक व्रत धारण कर ले परन्तु त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग न करे—हिंसा करता ही रहे तो उसके अन्य सब व्रत निष्फल हो जाते हैं। इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले श्रावकों का कल्याण हिंसा का त्याग कर देने से ही होता है ॥११॥

संसृतिमूलाहिंसा समस्तनिःश्रेयसापहा हिंसा ।
पुण्यबीजमरुभूमिः कल्मषसस्योर्वरा हिंसा ॥१२॥

यह हिंसा जन्म मरण रूप संसार की मूल कारण है, समस्त कल्याणों का नाश करने वाली है, पुण्यरूप बीज के लिए मरुभूमि है अर्थात् पुण्यरूप बीज को भी नाश कर देने वाली है और पाप रूप धान्यों की वृद्धि के लिए उपजाऊ भूमि है ॥१२॥

श्रेयोऽर्थिभिर्गृहस्थैस्त्याज्याऽनारम्भजा ततो हिंसा ।
कृतकारितानु मतिभिः सद्भावैर्वाङ्मनः कायैः ॥१३॥

इसलिए जो गृहस्थ अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं उनको कृत कारित अनुमोदना और मन-वचन-काय के

श्रेष्ठ भावों से संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥१३॥

दुर्गतिममुत्रलोकेऽपवाद मत्रैव हिंसको राज्ञा ।
गृहवित्ताद्याहरणं प्राप्नोत्यस्मात्त्यजेद्धिंसाम् ॥१४॥

देखो हिंसा करने वाला पुरुष परलोक में नरकादिक दुर्गतियों को प्राप्त होता है, इस लोक में अत्यन्त निन्दनीय गिना जाता है तथा राजा की आज्ञा से उसका सब धन, घर आदि का अपहरण कर लिया जाता है। अतएव ऐसी इस हिंसा का त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥१४॥

भावनयेति विरक्तोऽणुव्रतमाद्यं धरेत्त्यजन्दोषान् ।
बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधान् ॥१५॥

इस प्रकार हिंसा की भावना से विरक्त होकर और बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण, अन्नपान निरोध इन पाँचों अतिचारों का त्याग कर प्रथम अहिंसा अणुव्रत का पालन करना चाहिए। जकड़ कर बाँध देना बंध है, लाठी, कोड़े से मारना वध है, नाक, कान छेदना छेद है, शक्ति से अधिक बोझ लाददेना अतिभारारोपण है और समय पर दाना पानी नहीं देना अन्नपान निरोध है ॥१५॥

सम्यक्पातु महिंसाव्रतं निशायां चतुर्विधाहारम् ।
त्यजेदसौ सागारो दुष्प्रणिधानं त्रियोगानाम् ॥१६॥

इस श्रावक को यह अहिंसा अणुव्रत अच्छी तरह पालन करने के लिए रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर

देना चाहिये और मन, वचन, काय इन तीनों योगों के द्वारा अशुभ चिंतवन करने का त्याग कर देना चाहिए ॥१६॥

पातुमणुव्रतमाद्यं व्रतपरिवारं समस्तमितरद्धि ।
ततो ध्येयमिदमाद्य मास्तिकवर्यैर्व्रतं जैनैः ॥१७॥

इस एक अहिंसा व्रत के पालन करने के लिए अन्य समस्त व्रतों के समूह का पालन किया जाता है । इसलिए जिन वचनों पर श्रद्धा रखने वाले जैनियों को यह अहिंसा अणुव्रत अवश्य पालन करना चाहिए ॥१७॥

नासदभिधानमनृतं स्थूलं ब्रूते पराञ्च वादयति ।
सत्याणुव्रतिकोऽसौ स्वपरापत्कारणं च वचः ॥१८॥

जो श्रावक अपनी आत्मा के लिए, अन्य जीवों के लिए अनेक आपत्तियों के कारणभूत स्थूल झूठ को न तो स्वयं कभी बोलता है और न दूसरों से कभी बुलवाता है उस श्रावक को सत्याणुव्रती कहते हैं ॥१८॥

जह्यादलीकवादं पैशुन्याक्रोशभण्डवचनानि ।
प्राणार्तिप्रत्ययान्यप्रशस्तवाचः परं सत्याः ॥१९॥

सत्याणुव्रती श्रावक को मिथ्या वचनों का त्याग कर देना चाहिये, चुगली खाने का त्याग कर देना चाहिये, गाली-गलौज आदि अशुभ शब्दों का त्याग कर देना चाहिये, भंड वचनों का त्याग कर देना चाहिये, और प्राणों को दुःख देने वाले समस्त वाक्यों का त्याग कर देना चाहिये । इसके सिवाय सत्य

होने पर भी निन्दनीय कहे जाने वाले वचनों का भी त्याग कर देना चाहिये ॥१६॥

सत्यघोषवसुनृपवन्महापवादं समेत्य चिरकालम् ।
मज्जति दुर्गति जन्मसु भवकान्तारे मृषावादी ॥२०॥

जो पुरुष झूठ वचन बोलता है वह सत्यघोष और राजा वसु के समान चिरकाल तक अपना भारी अपवाद कराता है और फिर अनेक नरका दिक दुर्गतियों में पड़ कर संसार रूपी समुद्र में डूब जाता है ॥२०॥

अश्वत्थामा मृतश्चैवं सकृत्संदिग्धमूचिवान् ।
युधिष्ठिरोऽवचस्तस्याऽकीर्तिरद्यापिगीयते ॥२१॥

देखो ! पांडुपुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा मर गया' इस प्रकार एक वार सन्देहरूप असत्य वचन कहे थे, इसीलिये उनकी अपकीर्ति संसार भर में आजतक गाई जा रही हैं ॥२१॥

ततस्त्याज्यमसत्यं तन्निन्द्यं दुर्गतिकारणम् ।
सत्याणुव्रतमादेयमप्रमत्तै र्मुमुक्षुभिः ॥२२॥

अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले प्रमाद रहित श्रावकों को अनेक दुर्गतियों का कारण और अत्यंत निंद्य ऐसे असत्य वचनों का त्याग कर देना चाहिए और सत्याणुव्रत नाम के व्रत का पालन करते रहना चाहिए ॥२२॥

मिथ्यादेशरहोभ्याख्याकूटलेखक्रियास्त्यजेत् ।
न्यासापलापसाकारमन्त्रभेदा वतिक्रमान् ॥२३॥

सत्याणुव्रती श्रावकों को मिथ्या उपदेश देने का त्याग कर देना चाहिये, एकान्त में कही हुई व की हुई क्रियाओं के प्रगट कर देने का त्याग कर देना चाहिये, झूठे लेख लिखने का त्याग कर देना चाहिये, किसी की धरोहर मारने का त्याग कर देना चाहिये और किसी के मुख की आकृति वा अन्य किसी कारण से किसी के मन की बात जानकर उसे प्रगट नहीं करना चाहिये इस प्रकार इन पाँचों अतिचारों का त्याग कर देना चाहिये ॥२३॥

नादत्तमाददाति स्वल्पमपि स्वं कदापि परकीयम् ।
दत्ते यन्नापि परमकृत्स्नचौर्यादसौ विरतिः ॥२४॥

जो श्रावक बिना दी हुई दूसरे की थोड़ी सी चीज भी नहीं लेता है और न दूसरों को उठा कर देता है उसको स्थूल चोरी का त्याग अथवा अचौर्याणुव्रत कहते हैं ॥२४॥

लोकशंस्य पदमीयुस्तृणाय मत्वा समस्तपरवस्तु ।
धन्यास्ते तुष्टिजुषः स्वात्मज्ञा वारिषेणाद्याः ॥२५॥

देखो समस्त पर पदार्थों को तृण के समान मानते हुए तथा आत्मा के स्वरूप को जानने वाले महा संतोषी राजा वारिषेण आदि लोक में अत्यन्त प्रशंसनीय पद को प्राप्त हुए हैं, इसलिये ऐसे पुरुष इस संसार में धन्य हैं ॥२५॥

रिक्तपाणिस्त्वमायातो रिक्तपाणिः प्रयास्यसि ।
स्वस्मैपरस्वमाहृत्य कथमात्मन् ! जडायसे ॥२६॥

लाभान्तरायनियतं यावद् द्रव्यं तदेव चाप्तव्यम् ।
ततोनैच्छ परवस्तु धत्स्वाचौर्यव्रतं विज्ञ ॥२७॥

हे चतुर पुरुष तू विचार कर कि तू खाली हाथ तो आया है और खाली हाथ चला जायगा। इसलिये दूसरों का धन हरण करके अपने आत्मा को जड़ के समान क्यों बनाता है। इस जीव को उतना ही द्रव्य प्राप्त होता है जितना कि लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है इसलिये चतुर पुरुषों को पर वस्तु की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये और अचौर्य-अणुव्रत को पालन करते रहना चाहिये ॥२६-२७॥

चौरप्रयोगचौरानीतग्रहणं विरुद्धराज्यत्वे ।
व्यतिक्रमः प्रतिमिश्रणमतिचारा हीनमानतुलम् ॥२८॥
व्यतिक्रमानपास्यैता नचौर्याणुव्रतं भजेत् ।
भावयेदसकृच्चैष द्रढ़िमार्थं तद्भावनाः ॥२९॥

चोरी का प्रयोग बताना, चोरी के द्वारा लाई गई वस्तु को ग्रहण करना, राज्य के विरुद्ध चलना अथवा राज्य के बदलने पर बहुमूल्य पदार्थ अल्प मूल्य में लेना, व अल्प मूल्य के पदार्थ अधिक मूल्य में देना, बहुमूल्य के पदार्थों में अल्पमूल्य के पदार्थ मिलाकर बहुमूल्य में बेचना और तोलने के बाँट व नापने के गज, पायली आदि कमती बढ़ती रखना ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। श्रावकों को इन अतिचारों का त्याग कर अचौर्याणुव्रत को पालन करते रहना चाहिये और अचौर्याणुव्रत को

दृढ़ रखने के लिये उनकी भावनाओं को बार बार चिंतवन करते रहना चाहिए ॥२८-२६॥

यो न भजति पररामाः परमुद्युङ्क्ते न वाङ्मनःकायैः ।
ब्रह्माणुव्रतशीलः स्वदारतुष्टोऽयमाख्यातः ॥३०॥

जो पुरुष मन, वचन, काय से न तो परस्त्री का सेवन स्वयं करता है और न दूसरों से कराता है उसको ब्रह्मचर्याणुव्रती अर्थात् स्वदारसन्तोषी कहते हैं ॥३०॥

गुणगुरुविनयं ज्ञानं तपःश्रुताद्यं स्वकीयसन्मार्गम् ।
विस्मरति यदासक्तः शतशो धिक् तत्परस्त्रैणम् ॥३१॥

देखो इस परस्त्री के आसक्त हुआ यह पुरुष समस्त गुणों को भूल जाता है, गुरुओं का विनय करना भूल जाता है, ज्ञान भूल जाता है, तपश्चरण भूल जाता है, शास्त्र-ज्ञान को भूल जाता है, अपना श्रेष्ठ मार्ग भूल जाता है। इसलिए इस परस्त्री को सैकड़ों बार धिक्कार है ॥३१॥

संसारेऽनादावयि मूढ़ात्मन्नैकशस्त्वयाऽवाप्ता ।
स्वर्ललना दिव्यरतिः परं न तुष्टः किमद्यैषीः ॥३२॥

हे मूर्ख इस संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुये तूने अनेक बार देवांगनाऐं प्राप्त की हैं और अनेक बार उनके साथ दिव्य भोगों का अनुभव किया है तथापि तू कभी संतुष्ट नहीं हुआ, परन्तु फिर भी आज तू उनकी इच्छा करता है ? अर्थात् अब तो तू उनकी इच्छा को छोड़ ॥३२॥

इत्वरिकाद्वयगमनानङ्गे क्रीड़ासुतीव्रकामेच्छाः ।
परविवाहविटवृत्ती स्वदारतुष्टस्त्यजेद्दोषान् ॥३३॥

व्यभिचारिणी विवाहिता वा अविवाहिता स्त्रियों के यहाँ आना जाना, अनंग क्रीड़ा करना, काम सेवन की तीव्र लालसा रखना, दूसरे के पुत्र वा पुत्रियों का विवाह करना और विट्वृत्ति धारण करना अर्थात् कामी और व्यभिचारिणियों को मिला देने का काम करना ये पाँच परस्त्री त्याग व्रत के अतिचार हैं। स्वदार सन्तोष व्रत को धारण करने वालों को इन अतिचार वा दोषों का भी त्याग कर देना चाहिये ॥३३॥

बाह्याभ्यन्तरसङ्गे मूर्च्छात्यागोऽशतोऽघभीतेर्यत् ।
चिदचिद्वस्तुष्वेषाणुत्वेन परिग्रहाद्विरतिः ॥३४॥

जो पापों के डर से चैतन्य व जड़रूप बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहों में एक देश मूर्च्छा व ममत्व का त्याग कर देता है उसको परिग्रह परिमाणाणुव्रत कहते हैं ॥३४॥

मोमुह्यसे किमात्मन् धनधान्यादौ हि सर्वथाबाह्ये ।
स्वात्मैकत्वमितोऽपि कायः स्वीयः क्षणात्पतति ॥३५॥

हे आत्मा तू धन-धान्य आदि सर्वथा बाह्य पदार्थों में क्यों मोहित होता है, देख यह शरीर यद्यपि आत्मा के साथ मिल कर एक रूप होगया है तथापि यह क्षण भर में नष्ट हो जाता है ॥३५॥

तुङ्मातृजनीस्वाद्यं त्वयाप्तमात्मन्भवे भवे बहुशः ।
नाद्यापि बोधिलाभो भज स्वमस्माद्धि निस्सङ्गम् ॥३६॥

हे आत्मन् तू ने भव भव में अनेक वार पुत्र-माता, वधू और धन-धान्यादि पदार्थ प्राप्त किए हैं, परन्तु रत्नत्रय की प्राप्ति तुझे आज तक नहीं हुई। इसलिए अब तुझे समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए ॥ ३६ ॥

नातिचर व्रतमेनं धनधान्यक्षेत्रवास्तुकुप्यानाम् ।
सेवकरौप्यसुवर्णादीनां मानं व्यतिक्रम्य ॥३७॥

हे श्रावक ! इस परिग्रह परिणाम व्रत को धारण कर तू धन धान्य, क्षेत्र, वस्तु, कुप्य (वर्तन वस्त्र आदि) सेवक, सोना-चाँदी आदि पदार्थों का अतिक्रमण कर अर्थात् मर्यादा से अधिक रख कर उसमें किसी प्रकार के दोष व अतिचार भी मत लगा ॥३७॥

स्वीकृत्यैवमणुव्रतानि निरतीचारं सदा नन्दति,
मोहारात्यवशः पटुर्गहनकर्मारण्यदाहोद्यतः ।
देवेन्द्रैरपि शस्यतेऽमलचरित्रः श्रावकः शुद्धद—
गादातुंभृशमुत्सुकोऽयमचिराच्छीलव्रतान्यञ्जसा ॥३८॥

इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाला, निर्मल-चारित्र को धारण करने वाला, अत्यंत चतुर और मोहरूपी शत्रु के वश में कभी न रहने वाला श्रावक अतिचाररहित पाँचों अणु-व्रतों को धारण कर सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहता है और कर्मरूपी वन को जलाने के लिए सदा तत्पर रहता है। वह श्रावक इन्द्रों के द्वारा भी प्रशंसनीय गिना जाता है तथा फिर वह श्रावक शीघ्र ही शीलव्रत धारण करने के लिए उत्सुक रहता है ॥ ३८ ॥

दिगनर्थदण्डविरती विविदुर्भोगोपभोगपरिमाणं ।
गुणव्रतानि त्रीणि स्वणुव्रतानां गुणाय जिनाः ॥३६॥

भगवान जिनेन्द्रदेव इन अणुव्रतों के गुण बढ़ाने के लिये दिग्विरतिव्रत, अनर्थदंडविरतिव्रत और भोगोपभोग-परिमाणव्रत इन तीन गुणव्रतों का निरूपण करते हैं ॥ ३६ ॥

ख्याताब्धिगिरिवनाद्यैर्विधाय सीमामितो बहिर्नेयाम् ।
दशदिक्त्वामृति नियमोऽणुव्रतिनो दिग्विदिग्विरतिः ॥४०॥

प्रसिद्ध प्रसिद्ध समुद्र, पर्वत, वन, नदी आदि की सीमा नियत कर 'इससे आगे मैं कभी नहीं जाऊँगा' इस प्रकार दशों दिशाओं की मर्यादा नियत कर लेना और वह भी मरण पर्यंत नियत कर लेना दिग्विरतिनाम का पहला गुणव्रत कहलाता है ॥ ४० ॥

क्षेत्रवृद्धिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमसीमविस्मृतयः ।
दिग्विरतेः पञ्चैते लक्ष्यन्तेऽत्र व्यतीचाराः ॥४१॥

एक ओर की मर्यादा घटा कर दूसरी ओर की बढ़ा लेना नियत की हुई मर्यादा में से ऊपर की मर्यादा को उल्लंघन करना, नीचे की मर्यादा का उल्लंघन करना, और आठों दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना तथा नियत की हुई सीमा को भूल जाना ये पाँच दिग्विरति व्रत के अतिचार हैं इनका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ ४१ ॥

मनोवचनकायानां दुष्प्रणिधानत्वमुच्यते दण्डः ।
सोऽर्थाद्दतेऽत्रविरति रनर्थदण्डव्रतं यत्तत् ॥४२॥

मन-वचन-काय इन तीनों योगों में अशुभता लाना दंड कहलाता है। वह दंड विना प्रयोजन के नहीं लगाना चाहिये। इस प्रकार विना प्रयोजन के लगने वाले दंड का त्याग कर देना अनर्थदंडविरति नाम का व्रत कहलाता है॥ ४२॥

प्रमादचर्यादुःश्रुतिहिंसादानानणुव्रती सोऽयम्।
दुर्ध्यानदुरुपदेशा वनर्थदण्डांस्त्यजेत्पञ्च ॥४३॥

अणुव्रती श्रावक को प्रमादचर्या, दुःश्रुति, हिंसा दान, दुर्ध्यान और दुरुपदेश इन पाँचों अनर्थ दंडों का त्याग कर देना चाहिये॥ ४३॥

क्षित्यनिलाम्बुनगादिखातव्याघात सेचनच्छेदान्।
विफला ननर्थमटनं प्रमादाचर्यां त्यजेच्चान्याम् ॥४४॥

विना प्रयोजन के पृथ्वी खोदना, अग्नि जलाना, पानी फैलाना, पर्वत खोदना, जीवों को व्याघात पहुँचाना, छिड़काव करना, फूल पत्ते आदि तोड़कर डालना, और विना प्रयोजन इधर उधर घूमना, आदि को प्रमादचर्या कहते हैं। श्रावक को इस प्रमादचर्या का त्याग अवश्य कर देना चाहिए॥४४॥

हिंसानृतचौर्याद्यु पबृंहणहेतुप्रसङ्गशास्त्राणाम्।
श्रवणं वा विकथानां दुःश्रुतिरेषा बुधैस्त्याज्या॥४५॥

जिन शास्त्रों में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों के बढ़ाने के कारण और प्रसंग दिखलाये गये हों ऐसे शास्त्रों का पढ़ना, सुनना अथवा अन्य विकथाओं का पढना

सुनना, दुःश्रुति नाम का अनर्थ दंड है। अणुव्रतियों को इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥४५॥

तरवारिपरशुमार्गणविषाग्निकुदालहलकुशादीनाम् ।
दत्तिर्वधहेतूनां हिंसादानं ब्रुवन्ति जिनाः ॥४६॥

तलवार, फरसा, धनुषबाण, विष, अग्नि, कुदाल, हल, कुशा (बेलचा) आदि जीवों की हिंसा के कारणों को दान देना भगवान् जिनेन्द्रदेव हिंसादान कहते हैं। इसका भी त्याग करना अत्यंत आवश्यक है ॥४६॥

परमित्रपुत्रदाराविभवोच्छेदप्रकामचिन्तनकृत् ।
रौद्रार्तचित्तवृत्ति लक्षणमुज्झेदपध्यानम् ॥४७॥

दूसरे के मित्र, पुत्र, स्त्री, विभूति आदि के नाश होने का वार वार चिंतवन करना और अपने हृदय में सदा काल आर्तध्यान व रौद्रध्यान बनाये रखना अपध्यान कहलाता है। अणुव्रतियों को इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥४७॥

वशाजालकृषितिर्यक्क्लेशवणिज्याप्रवञ्चनादीनाम् ।
विकथानां चाख्यानं पापादेशोऽयमाख्यातः ॥४८॥

वन में हाथियों के पकड़ने के उपायभूत वशा बनाने, जाल फैलाने, खेती कराने, तिर्यंचों को क्लेश पहुँचाने, ठगने व घातक व्यापारों का उपदेश देना अथवा विकथाओं का उपदेश देना पापोपदेश नाम का अनर्थ दंड कहलाता है। अणुव्रत-धारियों को इसका भी त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥४८॥

त्यजेत्कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यातिप्रसाधनान् ।
पञ्चात्ययाञ्जिनार्पोक्तानसमीक्ष्याधिकक्रियाम् ॥४९॥

इनके सिवाय कंदर्प वा भंड वचन बोलना, कौत्कुच्य वा शरीर की खोटी चेष्टा करना, आवश्यकता से अधिक बोलना, आवश्यकता से अधिक गृहस्थी के साधनों को इकट्ठा कर लेना और बिना विचारे कोई भी काम कर डालना ये पाँच शास्त्रों में कहे हुए अतिचार हैं। अनर्थ दंडविरति नाम के व्रत को धारण करने वाले श्रावक को इन सब अतिचारों का त्याग कर देना चाहिये ॥४९॥

भोगोपभोगवस्तुपरिसंख्यानं परिग्रहावधिषु ।
यमनियमाभ्यामुक्तं तत्परिमाणव्रतं तज्ज्ञैः ॥५०॥

नियत किये हुए परिग्रह के भीतर यम रूप से अर्थात् जन्म पर्यन्त तक के लिये अथवा नियम रूप से अर्थात् किसी काल तक के लिये भोग और उपभोग के पदार्थों की संख्या नियत कर लेना भगवान गणधर देवों के द्वारा भोगोपभोग परिमाण नाम का व्रत कहलाता है ॥५०॥

सकृदासेव्यो भोगः पुनः पुनश्चप्रयुक्तिरुपभोगः ।
नियमो विनियतकालो यमोऽयमाजन्मन स्त्यागः ॥५१॥

भोजनादिक जो पदार्थ एक वार भोगने में आते हैं उनको भोग कहते हैं और आभूषण आदि जो पदार्थ वार वार भोगने में आते हैं उनको उपभोग कहते हैं। जो किसी काल की मर्यादा

लेकर त्याग किया जाता है उसको नियम कहते हैं और जो जन्म पर्यन्त तक के लिये त्याग किया जाता है उसको यम कहते हैं ॥५१॥

नवनीत पुष्पविजया केतकि धत्तूर धूम्रपानाद्यम् ।
स्वल्पफलं स्वतिघातं तादृशमन्यं त्यजेद्धीरः ॥५२॥

इस भोगोपभोग परिमाण व्रत में धीर वीर पुरुषों को जिसमें जीवों का घात अधिक हो और फल बहुत थोड़ा मिले ऐसे मक्खन, पुष्प, भांग, केतकी के फूल, धतूरा, तम्बाकू आदि समस्त पदार्थों का त्याग कर देना चाहिये ॥५२॥

यदनिष्टमनुपसेव्यमभक्ष्यमप्राप्यमेनदपि वस्तु ।
यमनियमाभ्यां मुञ्चेत् व्रतं न सुतरां विना त्यागात् ॥५३॥

इनके सिवाय जो पदार्थ अनिष्ट हों, जिनको उच्च गृहस्थ कभी सेवन न करते हों, जो अभक्ष्य हों, जो कभी प्राप्त न हो सकते हों, ऐसे पदार्थों का यम व नियम रूप से अवश्य त्याग कर देना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि त्याग किये बिना व्रत कभी नहीं कहला सकता। कोई पुरुष किसी पदार्थ को कभी सेवन नहीं करता तथापि जब तक वह उसका त्याग नहीं कर देता तब तक उसके उस पदार्थ का व्रत नहीं कहला सकता ॥५३॥

सचित्ततत्सम्बधं सन्मिश्रं वृष्यमत्ति दुष्पक्वम् ।
भोगोपभोगपरिमाणव्रतं प्रमादतोऽत्येति ॥५४॥

भोगोपभोग परिमाण व्रत के सचित्त पदार्थों का सेवन करना, सचित्त मिले हुए पदार्थों का सेवन करना, सचित्त से संबंध रखने वाले पदार्थों का सेवन करना, पौष्टिक पदार्थों का सेवन करना और कच्चे व अधिक पके हुए पदार्थों का सेवन करना ये पाँच प्रमादजन्य अतिचार कहलाते हैं। इसलिये इस व्रत को धारण करने वाले को इनका भी त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥५४॥

देशविरति सामायिक वैयावृत्यप्रोषधोपवासाः।
शिक्षाव्रतानि शिक्षाप्रधानतन्त्राणि चत्वारि ॥५५॥

अब आगे शिक्षा व्रतों का निरूपण करते हैं। देश विरति, सामायिक, वैयावृत्य और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षा व्रत कहलाते हैं। इनसे मुनिधर्म की शिक्षा मिलती है, इसीलिये इनको शिक्षाव्रत कहते हैं ॥५५॥

चारक्षेत्रवितनिमा मितसमयं गृहपुराद्यवधिभिर्यत्।
देशावकाशिकमिदं व्रतमभितो दिग्विरत्यवधौ ॥५६॥

दिग्विरति नाम के व्रत की मर्यादा के भीतर किसी नियत समय तक किसी घर व किसी नगर की अवधि नियत कर अपने आने जाने के लिये थोड़ा सा क्षेत्र रख कर बाकी के क्षेत्र का त्याग कर देना उसको देशावकाशिकव्रत कहते हैं ॥५६॥

स्वाङ्गदर्शनानयनं पुद्गलशब्दानुपातसंप्रैषान्।
सीम्नोबहिः प्रदेशे त्यजन्तु सुधियो व्यतीचारान् ॥५७॥

देश व्रत की नियत की हुई सीमा के बाहर अपना शरीर दिखाकर काम निकाल लेना, सीमा के बाहर से कोई पदार्थ

मंगा लेना, सीमा के बाहर डेला पत्थर फेंक कर कोई संकेत करना, चिल्लाकर कोई संकेत करना और सीमा के बाहर किसी को भेजना ये पाँच इस देशावकाशिक व्रत के अतिचार कहलाते हैं। बुद्धिमान व्रतियों को इनका भी त्याग कर देना चाहिये ॥५७॥

मुक्त्वारम्भमशेषं यावत्पर्यंककेशबन्धाद्याः।
सामायिकव्रतं स्वं ध्यातुस्त्रैसन्ध्यमेकान्ते ॥५८॥

'जब तक मेरी चोटी की गाँठ लगी है व जब तक यह पर्यंकासन व सुखासन लगा है तब तक मैं समस्त आरंभों का व समस्त पापों का त्याग करता हूँ' इस प्रकार नियम कर किसी एकांत स्थान में प्रातः काल, मध्याह्न काल और सायंकाल तीनों समय ध्यान करना सामायिक नाम का व्रत कहलाता है ॥५८॥

सामयिके मितकालं गृही मुनीयत्यरं निजात्मरतः।
सर्वतोऽघविनिवृत्ते व्रतमादेयं बुधैर्भक्त्या ॥५९॥

सामायिक करते समय वह गृहस्थ समस्त पापों का त्याग कर देता है और अपने आत्मा में लीन हो जाता है इसलिये उतने समय तक वह गृहस्थ मुनि के समान जान पड़ता है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को भक्ति पूर्वक यह व्रत धारण करना चाहिये ॥५९॥

विस्मृत्यनादरत्वं दुष्प्रणिधानं च कायवाङ् मनसाम्।
त्यजेदतिक्रमपञ्चकमपि सामयिकी मुमुक्षुरसौ ॥६०॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले और इसीलिये सामायिक करने वाले गृहस्थ को सामायिक करने का स्मरण न रहना अथवा सामायिक के किसी पाठ व क्रिया को भूल जाना, सामायिक का अनादर करना, तथा अपने मन वचन व काय को किसी अशुभ कार्य के चिंतवन में लगा देना इन पाँचों अतिचारों का त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥६०॥

दानमतिथये भिक्षौषधोपकरणप्रतिश्रयानाञ्च ।
तपोभृतां शुश्रूषा वैयावृत्यं जिनैरुदितम् ॥६१॥

मुनियों के लिये आहार दान देना, औषध देना, पीछी कमण्डलु व शास्त्र आदि उपकरण देना और उनके ठहरने के लिये वसतिका बनवा देना और उन तपस्वी मुनियों की सेवा शुश्रूषा करना भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा वैयावृत्य कहलाता है ॥६१॥

कालातिक्रममुज्झेत्सचित्तनिक्षेपणं तदावरणम् ।
मात्सर्यमपि परव्यपदेशं नवधाविशुद्धिधरः ॥६२॥

नवधा विशुद्धि और नवधा भक्ति को धारण करने वाले श्रावकों को आहार के समय को टाल कर दान के लिये खड़े होना, सचित्त पर रक्खे हुए पदार्थों को व सचित्त से ढके हुए पदार्थों को दान में देना, दूसरे दाताओं के साथ ईर्ष्या-भाव धारण करना, और दान देने के लिये दूसरों को नियुक्त करना अथवा देने योग्य अपने पदार्थों को भी दूसरों के बता कर

बचा लेना—इन पाँचों अतिचारों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥६२॥

देयदातृदानानां वैयावृत्यस्य वा स्फुटाख्यानम् ।
प्रकरणतो विज्ञेयं विरमाम्यधुना तु मन्दमतिः ॥६३॥

दान में कैसे पदार्थ देने चाहियें, दाता में कौन-कौन गुण होने चाहिये और दान किस प्रकार देना चाहिये। इस प्रकार के वैयावृत्य के विशेष वर्णनों को प्रकरणों के अनुसार जान लेना चाहिये। बस यहाँ इतना ही कहकर मन्द बुद्धि को धारण करने वाला मैं विराम लेता हूँ ॥६३॥

पर्वसु चतुर्षु चतुराहारत्यागो विमुच्य हिंसादीन् ।
स प्रोषधोपवासो विषयौत्सुक्याच्चदण्डपरः ॥६४॥

जो श्रावक प्रत्येक महीने की अष्टमी और चतुर्दशी इन चारों पर्वों में समस्त विषयों की इच्छा का त्याग कर तथा समस्त इन्द्रियों को दमन कर और हिंसादिक समस्त पापों का त्याग कर, चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है उसके उस व्रत को प्रोषधोपवास व्रत कहते हैं ॥६४॥

स्नानाञ्जन गन्धादि शरीर शृङ्गार पुष्पमाल्यादीन् ।
विकथां तत्तौर्यत्रिकमनिष्टयोगं कलिं शयनम् ॥६५॥
दुर्ध्यानमुपेक्षामपि हृषीकविषयातिलौल्यमारम्भम् ।
त्यक्त्वा शृणोतु धर्म्यवचांस्युपवसन्नतन्द्रालुः ॥६६॥

प्रोषधोपवास व्रत के दिन श्रावकों को सब तरह के प्रमादों का त्याग कर देना चाहिये, स्नान करने का, अंजन लगाने का,

अतर फुलेल लगाने का, शरीर के शृङ्गार करने का, पुष्प-माला पहनने का, विकथा सुनने व पढ़ने का, गाना सुनने, बाजा देखने, नृत्य देखने का, अनिष्ट पदार्थों के संयोग का, कलह करने का, सोने का, अशुभ चिन्तवन करने का, उदासीनता का, इन्द्रियों के विषयों का, अत्यन्त चंचलता का और आरम्भ का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और प्रमाद रहित होकर धर्म वचनों को सुनना चाहिये अर्थात् जिनवाणी का पठन-पाठन करते रहना चाहिए ॥६५-६६॥

कुर्यादेव मुपवास मुत्तममध्यमावरम् ।
सुधीर्भव्याग्रणीरेष यथाशक्तिर्यथागमम् ॥६७॥

इस प्रकार प्रोषधोपवास करने वाले बुद्धिमान भव्य जीवों को अपनी शक्ति के अनुसार तथा आगम में कहे अनुसार उत्तम, मध्यम, जघन्य उपवासों में से कोई सा एक उपवास अवश्य करना चाहिये ॥६७॥

अदृष्टामार्जितादानास्तरणोत्सर्ग विस्मृतीः ।
त्यजेत्पञ्चायत्यानेष तत्क्रियानादृति मपि ॥६८॥

विना देखे विना शोधे किसी पदार्थ को उठा लेना, विना देखे विना शोधे किसी पदार्थ को रख देना तथा विना देखे विना शोधे बिछौना आस्तरण बिछाना, प्रोषधोपवास की किसीक्रिया को भूल जाना और प्रोषधोपवास की क्रियाओं में अनादर दिखलाना ये पाँच प्रोषधोपवास के अतिचार हैं। प्रोषधोपवास

करने वालों को इन अतिचारों का त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये ॥६८॥

निश्चित्य मृतिं विधिनां प्रत्याख्यानं द्विधोपधेः क्रमशः ।
कृत्वा, धर्मायाङ्गत्यागः सल्लेखना भणिता ॥६९॥

किसी भी तरह से अपनी मृत्यु की निकटता समझ कर विधिपूर्वक अनुक्रम से वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना और अन्त में धर्म के लिये शरीर का त्याग कर देना सल्लेखना वा समाधिमरण कहलाता है ॥६९॥

प्रमत्तयोगाभावान्न चात्मघातस्समाधिमरणेऽस्मिन् ।
गण्डान्तः पाटयतो यथास्ति भिषजो न दोषलवः ॥७०॥

जिस प्रकार कोई वैद्य व डाक्टर किसी फोड़ा को चीर कर उसका मल निकालता है । यद्यपि ऐसा करने से रोगी को दुःख पहुँचता है परन्तु उस डाक्टर का अभिप्राय रोग को दूर करने का होता है, इसीलिये उस डाक्टर को कोई दोष नहीं लगता । इसी प्रकार समाधिमरण धारण करने में किसी प्रकार का प्रमाद व कषाय नहीं होता, इसीलिये उसमें आत्मघात का दोष कभी नहीं लगता ॥७०॥

शोकभयप्राचुर्ये मरणे रत्नत्रयं परं रक्ष्यम् ।
ज्वलतोभाण्डागारा द्यथार्घ्यरत्नाहृतौ श्रेयः ॥७१॥

जिस प्रकार किसी मकान में अग्नि लग जाने पर उसमें के बहुमूल्य रत्नों की रक्षा करने में ही कल्याण होता है उसी

प्रकार इस शोक व भय की अधिकता वाले मरण होने के समय में रत्नत्रय की रक्षा करना ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है ॥७१॥

बहुशस्तप्ततपांसि विफलान्यन्तः क्रियां विना यस्मात् ।
समाधिना मृत्युरतो भव्याग्रण्यां हि केषाञ्चित् ॥७२॥

इस अन्तिम समाधिमरण रूप क्रिया के बिना अनेक प्रकार के धारण किये हुए तपश्चरण भी व्यर्थ हो जाते हैं, इसलिये कहना पड़ता है कि यह समाधिमरण किसी विरले भव्य पुरुष को ही होता है ॥७२॥

जीवितमरणाशंसासुखानुबन्धैर्निदानमप्युज्झेत् ।
मित्रानुरागमत्ययपञ्चकमार्यस्समाधिधरः ॥७३॥

कुछ और जीवित रहने की इच्छा रखना, शीघ्र ही मरने की इच्छा रखना, भोगे हुए सुखों का अनुभव करना, आगामी भव के लिए भोगों की इच्छा करना, और मित्रों में प्रेम रखना ये पाँच समाधिमरण के अतिचार हैं। समाधि मरण धारण करने वालों को इन पाँचों अतिचारों का त्याग अवश्य ही कर देना चाहिए ॥७३॥

व्रतपरिकरमभ्यासरूपेणैवं दधाति भव्याग्र्यः ।
प्रतिमारूपेणैष श्रयतु मुमुक्षुर्व्रतानीतः ॥७४॥

इस प्रकार कहे हुए उत्तम व्रतों को उत्तम भव्य पुरुष अभ्यास रूप से धारण करता है। तदनन्तर मोक्ष की इच्छा करने वाला और व्रतों को धारण करने वाला इन्हीं व्रतों को प्रतिमा रूप से धारण करता है ॥७४॥

जाग्रति संयमभावे स्फुरति विरक्तिस्समस्तभोगेषु ।
तत्र प्रतिज्ञोदेति प्रतिमादिष्टा जिनैरेषा ॥७५॥

इस प्रकार अभ्यासरूप से व्रतों का पालन करते करते जब संयम धारण करने के भाव उत्पन्न होते हैं और भोगोपभोगों से वैराग्य रूप परिणाम हो जाते हैं तब वह इन्हीं व्रतों को प्रतिज्ञा रूप से धारण करता है। इस प्रकार इन्हीं व्रतों को प्रतिज्ञा रूप से धारण करने को भगवान् जिनेन्द्रदेव प्रतिमा कहते हैं ॥७५॥

पञ्चाप्तभक्तिकुशलो विशुद्धदृष्टिर्धृताष्टमूलगुणः ।
कृत्स्नाङ्गभोगविरतो व्यसनाऽलिप्तस्तु दार्शनिकः ॥७६॥

जो श्रावक पांचों परमेष्ठियों की भक्ति करने में निपुण है, जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, अतिचाररहित है, जो आठों मूलगुणों को निरतिचार पालन करता है, जो संसार शरीर और भोगों से सदा विरक्त रहता है और जिसने सातों व्यसनों का त्याग कर दिया है ऐसे श्रावक को दार्शनिक वा दर्शन प्रतिमा धारण करने वाला कहते हैं ॥ ७६ ॥

शल्यत्रयं शल्यमिव विहाय पञ्चाप्यणुव्रतान्यमलम् ।
दधच्छीलसप्तकमपि व्रताग्रणीभिर्मतो व्रतिकः ॥७७॥

जो श्रावक बाण के समान माया, मिथ्यात्व, निदान इन तीनों शल्यों का त्याग कर देता है तथा पाँचों अणुव्रतों को अतिचार रहित पालन करता है और तीन गुणव्रत तथा चारों शिक्षा व्रत इन सातों शीलों को भी धारण करता है वह पुरुष व्रती पुरुषों के

द्वारा व्रती वा व्रत प्रतिमा को धारण करने वाला कहलाता है ॥७७॥

निस्सङ्गस्स्वंध्याताऽसनद्वयेन त्रिसन्ध्यमेकान्ते ।
प्रत्याख्यानकषायी त्रियोगशुद्धः परस्वज्ञः ॥७८॥
चतुर्दिक्षु यश्चतुरावर्तत्रितयश्चतुष्प्रणामधरः ।
सामयिकप्रतिमोऽयं कायोत्सर्गं भृशं तन्वन् ॥७९॥

जो पुरुष केवल प्रत्याख्यान कषाय के वशीभूत है, परंतु फिर भी जिसका मन, वचन, काय शुद्ध है, जो आत्मा और पुद्गलादिक पर पदार्थों के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है और जो ममत्व की तीव्रता से रहित है ऐसा पुरुष प्रातः-काल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तीनों समय किसी एकांत स्थान में पद्मासन से बैठकर अथवा खड्गासन होकर अपने आत्मा का ध्यान करता है, तथा ध्यान करने के पहले प्रत्येक दिशा में तीन तीन आवर्त करके चारों दिशाओं में बारह आवर्त करता है चारों दिशाओं में चार प्रणाम करता है और फिर बार-बार कायोत्सर्ग करता रहता है उसको तीसरी सामायिक प्रतिमा को धारण करने वाला कहते हैं ॥७८--७९॥

स प्रोषधोपवासी शान्तस्वान्तोऽनिगुह्य निजशक्तिम् ।
धर्मध्यानपरश्चतुरशनत्यागी चतुष्पर्व्याम् ॥८०॥

जो श्रावक प्रत्येक महीने के चारों पर्वों में अर्थात् दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी के दिन शांतचित्त होकर तथा धर्मध्यान में लीन होता हुआ अपनी शक्ति को न छिपाकर

चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है उसको चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा को धारण करने वाला कहते हैं ॥८०॥

फलपत्रकंदशाकप्रसूनबीजांकुराम्बुमूलाद्यम् ।
न सचित्तमत्ति नियमात्सचित्तविरतो दयामूर्त्तिः ॥८१॥

जो दया की मूर्ति श्रावक फल, पत्ते, कंद, मूल, शाक, फूल, बीज अंकुर, जल आदि पदार्थों को सचित्त रूप से खाने का नियम पूर्वक त्याग कर देता है अर्थात् इनको बिना पकाये कच्चे कभी नहीं खाता उसको सचित्तविरत नाम की पाँचवी प्रतिमा को धारण करने वाला कहते हैं ॥८१॥

रात्रिभुक्तिविरतो यस्त्यजति निशायां चतुर्विधाहारम् ।
दिवामैथुनत्यागिनमनुमन्यन्ते हि केचिदिह ॥८२॥

जो पुरुष रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है उसको रात्रिभुक्त विरत नाम को छटो प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक कहते हैं यहाँ पर कोई कोई आचार्य दिन में मैथुन करने का त्याग भी इस प्रतिमा का लक्षण करते हैं ॥८२॥

कृत्स्नस्त्रैणविरक्तो निजात्मनिरतो जितेन्द्रियस्तुष्टः ।
न्यक्कृतपुष्पेषुभटो जिनैर्मतो ब्रह्मचारी सः ॥८३॥

जो समस्त स्त्रीमात्र के सेवन करने का त्याग कर देता है, जो अपने आत्मा में सदा लीन रहता है, जिसने समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है और जिसने कामदेव रूपी मल्ल को परास्त कर दिया है ऐसे

महात्मा को भगवान् जिनेन्द्रदेव सातवीं प्रतिमा को धारण करने वाला ब्रह्मचारी कहते हैं ॥८३॥

हिंसाप्रत्ययसेवावाणिज्यादेर्मनोवचःकायैः ।
व्युपारमणमारम्भात्स्मृतोऽयमारम्भविनिवृत्तः ।.८४॥

जो श्रावक हिंसा के कारणभूत सेवा, वाणिज्य आदि आरम्भों को मन, वचन, काय से त्याग कर देता है उसको आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमा को धारण करने वाला कहते हैं ॥८४॥

दशधाबाह्यग्रन्थाद्विरमतिमूर्च्छामपास्य कात्स्न्र्येन ।
परमौदास्यनिमग्नोऽभिमतो देवैः परिग्रहत्यागी ॥८५॥

जो श्रावक पूर्णरूप से ममत्व रूप परिणामों का त्याग कर दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का त्याग कर देता है और परम वैराग्य रूप परिणामों में सदा काल निमग्न रहता है उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव परिग्रह त्यागी वा नौवीं प्रतिमा को धारण करने वाला कहते हैं ॥८५॥

कर्मैहिकमारम्भं परिग्रहं वा मनोवचःकायैः ।
अनुमोदते न नियमादनुमतिविरतोऽनुमन्तव्यः ॥८६॥

जो श्रावक इस लोक सम्बन्धी आरम्भ के कार्यों को तथा परिग्रह को नियम पूर्वक न तो मन से अनुमोदना करता है न वचन से अनुमोदना करता है और न काय से अनुमोदना करता है उसको अनुमति विरत नाम की दशवीं प्रतिमा को धारण करने वाला कहते हैं ॥८६॥

उद्दिष्टपिण्डविरतो गुरूपकण्ठे स्थितश्च भैक्ष्याशः ।
चुल्लकार्यभेदेन द्वेधोद्दिष्टव्रती सोऽयम् ॥८७॥

जो श्रावक जैनेश्वरी दीक्षा धारण करने की इच्छा से सदा काल आचार्य के समीप रहता है तथा उद्दिष्ट भोजन का सर्वथा त्याग कर देता है उसको उद्दिष्ट विरत नाम की ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाला कहते हैं उस उद्दिष्ट त्यागी के दो भेद होते हैं। पहला चुल्लक कहलाता है और दूसरा आर्य व ऐलक कहलाता है ॥८७॥

एवं पूर्वगुणैस्सहोत्तरगुणान्नन्दन्ति सद्दृष्टयः,
सम्यग्ज्ञानविनष्टवाममतयो निश्शल्यभावेन ये ।
मर्त्येशेन्द्रजिनेन्द्रभूतिमनुभूयासंसृतेर्निस्तुलां,
ते भव्याः परमाप्नुवन्ति विभवं दिव्यं शिवंशास्वतम् ॥८८॥

जो सम्यग्दृष्टी श्रावक माया मिथ्या निदान इन तीन शल्यों का त्याग कर पहली पहली प्रतिमाओं के समस्त गुणों के साथ साथ आगे की प्रतिमाओं को धारण करते हैं और अपने सम्यग् ज्ञान के द्वारा अपनी मिथ्या बुद्धि का सर्वथा त्याग कर दिया है ऐसे महा भव्य पुरुष संसार को सर्वोत्तम इन्द्र चक्रवर्ती और जिनेन्द्र देव की परम विभूति का अनुभव कर सदाकाल रहने वाली परमोत्कृष्ट मोक्षरूप दिव्य विभूति को प्राप्त होते हैं ॥८८॥

इस प्रकार विद्वद्वर पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्री
कृत षट्कर्म समुच्चय में संयम के
स्वरूप को वर्णन करने वाला यह
चौथा अधिकार समाप्त हुआ

———

पञ्चमोऽधिकारः

जिगाय धृष्णुकमठोपसर्ग—
मुद्दामभीमं सुतपांसि तप्त्वा ।
पद्मावतीनागफणाभिरामं—
तन्नौमि संस्तौमि च पार्श्वनाथम् ॥१॥

जिन पार्श्वनाथ भगवान् ने उद्धत कमठ के अत्यन्त भयंकर उपसर्ग को जीता और ध्यान रूप परम तपश्चरण कर जो पद्मावती और धरणीन्द्र के फण से सुशोभित हुए ऐसे पार्श्वनाथ भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ और उनकी स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

दुष्कर्मनिर्जरायै धर्मध्यानस्य चात्मनः सिद्धयै ।
तपोऽन्वहं तप्यध्वं शक्त्यनुरूपं च मुक्त्यङ्गम् ॥२॥

उत्तम श्रावक को अपने अशुभ कर्मों की निर्जरा करने के लिये और धर्मध्यान तथा आत्मा की सिद्धि के लिये मोक्ष का कारणभूत ऐसा तपश्चरण अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन धारण करना चाहिये ॥ २ ॥

तपो विनानाच्चजितिर्विरतिर्विषयेषु जातुचिन्नास्याः ।
संसृतिरतश्चरेत्तत्तपो भवारण्यदाहपटु ॥३॥

इस तपश्चरण के बिना इन्द्रियों का विजय नहीं होता है और बिना इन्द्रिय विजय के विषयों से विरक्ति नहीं होती है । विरक्ति के बिना संसार का अन्त नहीं होता,

ऐसी अवस्था में संसार की परम्परा बराबर चलती रहती है, इसलिये संसार रूपी वन को जलाने के लिये अत्यन्त चतुर ऐसा यह तपश्चरण अवश्य धारण करना चाहिये ॥ ३ ॥

चक्रिवैभवोच्छित्तावप्ययमृषभात्मजो ययाऽऽश्लिष्टः ।
जातस्त्रिजगद्वन्द्यो धन्यास्त्येषा तपोलक्ष्मीः ॥४॥

देखो भगवान् वृषभदेव के पुत्र महाराज भरत ने अपनी चक्रवर्ती की विभूति का त्याग कर देने पर जिस तपश्चरण रूपी लक्ष्मी को धारण किया था उससे ही वह तीनों लोकों के द्वारा वन्दनीय हो गया था। इसीलिये कहना पड़ता है कि यह तपश्चरण रूपी लक्ष्मी धन्य है ॥ ४ ॥

द्वादशविधं तपोऽदोऽनुदिनं नियमात्समाचरेच्छक्त्या ।
बाह्यान्तरङ्गभिन्नं देशेनैष प्रहृष्टमनाः ॥५॥

इस तपश्चरण के दो भेद हैं—एक अन्तरंग तप और दूसरा बहिरंग तप। अन्तरंग तप के छः भेद हैं और बहिरंग तप के छः भेद हैं। इस प्रकार बारह प्रकार का तपश्चरण है। प्रत्येक श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार प्रसन्न चित्त होकर नियम पूर्वक एक देश तपश्चरण अवश्य धारण करना चाहिये ॥ ५ ॥

अनशनमवमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यारसपरित्यागान् ।
विविक्तशय्यासनमपि कायक्लेशं दधीत मुदा ॥६॥

अनशन अथवा उपवास करना, अवमौदर्य अर्थात् भूख

से कम भोजन करना, वृत्तिपरिसंख्यान अर्थात् भोजन के पहले कुछ भी अटपटी कठिन प्रतिज्ञा लेकर आहार को निगलना और उस प्रतिज्ञा के अनुसार आहार मिले तो लेना नहीं तो नहीं लेना, रस-परित्याग अर्थात् छहों रसों में से किसी एक दो चार आदि रसों का त्याग करना, विविक्तशय्यासन अर्थात् अपने बैठने उठने का स्थान एकान्त में रखना और कायक्लेश अर्थात् धूप ठंडी आदि से शरीर को क्लेश पहुँचाना, यह छः प्रकार का बाह्य तपश्चरण है। इस छहों प्रकार के तपश्चरण को प्रसन्न चित्त होकर धारण करना चाहिये ॥ ६ ॥

षड्विधमितिबाह्यतपश्चरन्ति भक्त्यानपेक्ष्य दृष्टफलम् ।
येऽन्तस्तपांसि षडपि भवन्ति तेषां सुसाध्यानि ॥७॥

जो पुरुष भक्ति पूर्वक इस लोक सम्बन्धी दिखाई देने वाले फलों की अपेक्षा न करता हुआ इन छहों प्रकार के बाह्य तपश्चरण को धारण करता है वह अन्तरंग के छहों तपश्चरणों को सरल रीति से धारण कर लेता है ॥ ७ ॥

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यानि तपांसि स्वाध्यायम् ।
व्युत्सर्गध्यानेऽपि च षडुत्तराणीह तप्यानि ॥८॥

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छः प्रकार का अन्तरंग तपश्चरण है ॥ ८ ॥

नवधाप्रमाददोषाणां परिहारोऽपहाय दशदोषान् ।
प्रायश्चित्तमुदीरितमशेषविज्जैर्जिनाधीशैः ॥९॥

समस्त तत्वों को जानने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ ने दश प्रकार के दोषों से रहित होकर नौ प्रकार के प्रमाद के दोषों का त्याग करना प्रायश्चित्त बतलाया है ॥ ९ ॥

पूज्येषु बोधिदर्शनचारित्रेष्वादृतिश्च तद्वत्सु ।
प्रत्यक्षेऽथपरोक्षे विनयः कार्यस्तपोनिष्ठैः ॥१०॥

जो तपस्वी पुरुष पूज्य सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में आदर सत्कार करते हैं तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र को धारण करने वालों की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष विनय करते हैं उसको विनय नाम का अंतरंग तप कहते हैं यह विनय तपश्चरण भी अवश्य धारण करना चाहिये ॥१०॥

कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण रत्नत्रयान्वितानां यत् ।
व्याध्यादिप्रतिकारो वैयावृत्यं गुरूणां तत् ॥११॥

अपने शरीर की चेष्टा से अथवा किसी भी अन्य द्रव्य से रत्नत्रय को धारण करने वाले गुरुओं के रोगादिक का प्रतिकार करना उनकी सेवा चाकरी करना वैयावृत्य नाम का तपश्चरण कहलाता है ॥११॥

बोधिभावनाऽऽलस्यंनिश्शेषं या विमुच्य निरवद्या ।
स्वाध्यायः पञ्चविधः स्तुतो मुनीन्द्रैरशेषज्ञैः ॥१२॥

जो समस्त आलस्य का त्याग कर रत्नत्रय की निर्दोष भावना धारण करना है और वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश पाँचों प्रकार का स्वाध्याय धारण करना है उसको भगवान् सर्वज्ञ देव स्वाध्याय नाम का तप कहते हैं ॥१२॥

बाह्यान्तरोपधे रुत्सर्जनमाशाऽपहानये सङ्गे ।
व्युत्सर्गश्चरणीयो भव्यैर्नियमाद्यथाशक्ति ॥१३॥

परिग्रह वा ममत्व की आशा का त्याग करने के लिये जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना है उसको व्युत्सर्ग कहते हैं। समस्त भव्य जीवों को अपनी शक्ति के अनुसार नियम पूर्वक इस व्युत्सर्ग नाम के तपश्चरण को धारण करना चाहिये ॥१३॥

चेतोविक्षेपत्यागोऽदोध्यानं चतुर्विधं तत्र ।
त्यक्त्वार्तरौद्रयुग्मं ध्येयं धर्म्यं शुभं मुक्त्यै ॥१४॥

अपने मन के संकल्प विकल्पों का त्याग कर देना ध्यान है वह ध्यान आर्त रौद्र धर्म्म और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का है। इनमें से आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान का सर्वथा त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये श्रावकों को शुभ धर्म्य ध्यान धारण करना चाहिये ॥१४॥

निःश्रेयसमधिलिप्सुर्निस्तन्द्रस्सन्विहाय मोहभरम् ।
अन्तस्तपांसि षडिति श्रयतु तितीर्षुर्भवाम्भोधेः ॥१५॥

जो श्रावक इस संसाररूपी महासागर को तिरने की इच्छा रखता है और मोक्षरूप महाकल्याण को प्राप्त होना चाहता है उसे अपने समस्त आलस्य का त्याग कर तथा समस्त मोह का त्याग कर इन छहों प्रकार के अंतरंग तपश्चरणों को धारण करना चाहिये ॥१५॥

कर्ममलीमसमात्मानं कनकाश्मेव ये तपोवह्नौ ।
संताप्य हि नैर्मल्यं सुधियो गमयन्ति ते धन्याः ॥१६॥

जिस प्रकार सोना मिला पत्थर अग्नि में तपाने से सुवर्ण रूप हो जाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मों के संबंध से मालूम हो रहा है उसको तपश्चरण रूपी वन्हि में तपाकर जो तपस्वी अपने आत्मा को निर्मल बना लेता है वह बुद्धिमान पुरुष इस संसार में महा धन्य कहलाता है ॥१६॥

नैकृष्ट्यप्राचुर्ये चित्रे काले कलौ तपस्तप्त्वा ।
धन्यास्ते नग्नाङ्गा यतयः क्षपयन्ति कर्माणि ॥१७॥

यद्यपि यह कलिकाल अत्यंत निकृष्ट है तथापि आश्चर्य की बात यह है कि इस निकृष्ट कलिकाल में भी दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले मुनिराज तपश्चरण कर अपने कर्मों की बहुतसी निर्जरा कर लेते हैं इस संसार में ऐसे मुनि ही धन्य कहलाते हैं ॥१७॥

इस प्रकार विद्वद्वर पं० श्यामसुन्दर लाल शास्त्री
कृत पट्कर्म समुच्चय में तपश्चरण के स्वरूप
को वर्णन करने वाला यह पाँचवाँ
अधिकार समाप्त हुआ

षष्ठोऽधिकारः

मिथ्यामताटोपतमोवितानक—
मेकान्तवादाहितयुक्तिकौमुदम् ।
निर्मूलयन् सर्वविदस्तकल्मषः—
श्रीवर्धमानद्युमणिर्विराजति ॥१॥

जो वर्द्धमान स्वामी समस्त दोषों से रहित और सर्वज्ञ हैं तथा जिन्होंने समस्त मिथ्यात्वों के समूह से होने वाले अंधकार के समूह को नाश कर दिया है और एकान्तवाद से उत्पन्न होने वाली कुयुक्तियाँ रूपी कमोदिनियों को भी नाश कर दिया है ऐसे श्री वर्द्धमान रूपी सूर्य सदा सुशोभित बने रहें ॥१॥

स्वस्यातिसर्जनं यत्स्वपरानुग्रहकरं यथाशक्त्या ।
द्रव्यविधिदातृपात्राहितवैशिष्ट्यं विदुर्दानम् ॥२॥

अपना और दूसरों का उपकार करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अपनी वस्तु का देना दान है। उस दान में द्रव्य, विधि, दाता और पात्र के भेद से विशेषता हो जाती है ॥२॥

निर्बाधधर्मसन्ततिहेतुर्दानं फलानपेक्षं यत् ।
पात्राय दीयते परमनन्तदानाप्तयेऽलं तत् ॥३॥

निर्बाध धर्म की परम्परा स्थिर रखने में कारणभूत जो दान बिना किसी फल की इच्छा किये पात्र के लिये दिया जाता है वह अनन्त दान की प्राप्ति के लिये समर्थ होता है ॥३॥

रागद्वेषामयभयदुःखासंयममदाद्यनुत्यादि ।
ध्यानतपोवृद्धिकरं द्रव्यं दानार्हमार्हते समये ॥४॥

जो पदार्थ राग, द्वेष, रोग, भय, दुख, असंयम, मद आदि विकारों को उत्पन्न करने वाला न हो, तथा ध्यान और तपश्चरण को बढ़ाने वाला हो ऐसा द्रव्य भगवान अरहंत देव के मत में दान देने योग्य कहलाता है ॥४॥

आहारौषधोपकरणावासैर्भिद्यते चतुर्धादः ।
दानं द्रव्यमपेक्ष्याऽनुदिनं देयं बुधैः शक्त्याः ॥५॥

आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और आवासदान के भेद से देने योग्य पदार्थ के चार भेद हैं। इनमें से बुद्धिमानों को अपनी शक्ति के अनुसार जिस द्रव्य की अपेक्षा हो वही द्रव्य प्रति दिन देना चाहिये ॥५॥

स्वपदानुकूलवृत्त्या ददीत दानं चतुर्विधं स्वहिते ।
कन्याभूहेमादीनपि वा यच्छेत्सधर्मभ्यः ॥६॥

श्रावकों को अपने कल्याण के लिये अपने पदस्थ के अनुसार चारों प्रकार का दान देना चाहिये। तथा साधर्मी पुरुषों के लिए कन्या, पृथ्वी, सोना-चाँदी आदि पदार्थों का दान भी देना चाहिये ॥६॥

लोकद्वयाविरोधि समस्तसत्त्वोपकारि योग्येभ्यः ।
ज्ञानाभयदानद्वयमार्यैर्देयं यथाविधिना ॥७॥

आर्य पुरुषों को योग्य पुरुषों के लिये इस लोक और परलोक दोनों लोकों के विरोध से रहित तथा समस्त जीवों का

उपकार करने वाला ज्ञानदान और अभय दान भी विधि पूर्वक देते रहना चाहिये ॥७॥

सधर्मणे दाक्षिण्यादमेयपुण्यार्जनार्थसहवासम् ।
धर्मार्थकाममूलं कन्यादानं बुधाः स्तुवते ॥८॥

कन्यादान देना भी धर्म अर्थ काम तीनों पुरुषार्थों का मूल कारण है तथा अनंत पुण्य को उपार्जन करने का साधन है। इसलिये उदारता पूर्वक धर्मात्मा भाइयों के लिए कन्यादान देने को विद्वान् लोग श्रेष्ठ बतलाते हैं ॥८॥

प्रतिग्रहोच्चस्थानाङ्घ्रिप्रक्षालार्चनानतीभिरपि ।
योगत्रिकान्नशुचयो नवधाभक्तिर्विधिर्ज्ञेयः ॥९॥

प्रतिग्रह करना, उच्चासन देना, पाद प्रक्षालन करना, पूजा करना, नमस्कार करना, मन को शुद्ध रखना, वचन को शुद्ध रखना, शरीर को शुद्ध रखना और देने योग्य आहार आदि द्रव्य को शुद्ध रखना ये नौ प्रकार की भक्ति वा विधि कहलाती है ॥९॥

भक्तिश्रद्धातुष्टिसत्त्वज्ञानक्षमास्तलौल्यानि ।
स्वतिमात्रसुकृतलिप्सोः ख्याता दातुर्गुणाः सप्त ॥१०॥

भक्ति रखना, श्रद्धा रखना, सन्तोष रखना, दान देने की शक्ति होना, विधि आदि का ज्ञान होना, क्षमारूप परिणामों को रखना, और लोभ का त्याग करना ये सर्वोत्तम पुण्य को उपार्जन करने की इच्छा रखने वाले दाता के सात गुण कहलाते हैं ॥१०॥

सात्त्विकराजसतामसभेदैर्दानं प्रयात्यपि त्रित्वम् ।
दातृगुणापेक्षमिह सात्त्विकदानं परं शस्यम् ॥११॥

अथवा दाता के गुणों की अपेक्षा से सात्विकदान, राजसदान और तामसदान इस प्रकार दान के तीन भेद हो जाते हैं। इन सब में सात्विक दान प्रशंसनीय गिना जाता है ॥११॥

हितमातिथेयमारात्स्फुरन्ति भक्त्यादयो गुणा यस्मिन् ।
पात्रनिरीक्षणमभितस्सात्त्विकदानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥१२॥

जिस दान के देने से अतिथि का हित हो, जिसमें भक्ति आदिक दाता के सब गुण स्फुरायमान होते हों और जिसमें सब ओर से उत्तम पात्र को देने के लिये ही ध्यान रक्खा जाता हो उसको विद्वान् लोग सात्विक दान कहते हैं ॥ १२ ॥

क्षणिकाहार्यमशेषात्परप्रयुक्तं परं स्वयशसे यत् ।
प्रदर्शनाधिकलक्ष्यं राजसमुक्तं जिनैर्दानम् ॥१३॥

जो दान थोड़ी देर के लिये ही सुन्दर जान पड़ता है—जो दूसरे की प्रेरणा से दिया जाता है, जो अपने यश के लिये दिया जाता है और जिसमें दिखावा ही अधिक होता है उसको भगवान जिनेन्द्रदेव राजस दान कहते हैं ॥ १३ ॥

भृत्यादिकृतोद्योगं श्रद्धाभक्त्यादृतिक्षमाहीनम् ।
निन्द्यं तामसदानं पात्रापात्रेक्षणातीतम् ॥१४॥

जिस दान के देने में नौकर चाकरों ने उद्योग किया हो, जिस दान में न तो श्रद्धा हो, न भक्ति हो, न आदर सत्कार

हो, न क्षमा हो और न जिसमें पात्र अपात्र का विचार हो, ऐसे निन्दनीय दान को तामस दान कहते हैं ॥ १४ ॥

वानस्पत्यफलानां क्षेत्रविशेषो यथास्ति वैशिष्ट्ये ।
हेतुर्दानफलेष्वपि पात्रविशेषस्तथाहितस्सद्भिः ॥१५॥

जिस प्रकार वनस्पतियों के फलों की विशेषता में क्षेत्र की विशेषता कारण है उसी प्रकार दान के फल में भी पात्र की विशेषता कारण है ऐसा गणधरादिक देव कहते हैं ॥ १५ ॥

यतिरुत्तमपात्रं श्रावका मध्यमं स्मृतं जिनेशगिरा ।
अविरतसुदृग्जघन्यं त्रिरत्नवैकल्यसाकल्यात् ॥१६॥

मुनिराज उत्तम पात्र कहलाते हैं, श्रावक मध्यम पात्र कहलाते हैं और अविरत सम्यग्दृष्टी श्रावक जघन्य पात्र कहलाते हैं। ये पात्रों के भेद रत्नत्रय की पूर्णता और अपूर्णता से हो जाते हैं। जिनमें पूर्ण रत्नत्रय है वे उत्तम पात्र हैं, जिनमें एक देश रत्नत्रय है वे मध्यम पात्र हैं और जिनमें सम्यक् चारित्र नहीं है वे जघन्य पात्र हैं। इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपनी वाणी में बतलाया है ॥ १६ ॥

पात्रत्रिकयेतिददन्निकृष्टमध्योत्तमा हि भोगभुवः ।
मरुभूक्षबीजचयवद्व्यर्थमपात्रे प्रयच्छितं दानम् ॥१७॥

उत्तम पात्र को दान देने से उत्तम भोग भूमि की प्राप्ति होती है, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोग भूमि की प्राप्ति होती है और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोग-भूमि की प्राप्ति होती है। तथा जिस प्रकार मरुस्थल में

(मारवाड़ या बालू में) बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है उसी प्रकार अपात्र को दिया हुआ दान भी व्यर्थ ही जाता है ॥१७॥

दुष्कर्मोदयतन्त्रान्क्षुधाद्यर्दितानपात्रसंज्ञानपि ।
भुक्त्यौषधवस्त्राद्यं कृपया यच्छेन्न जातु पात्रधिया ॥१८॥

जो अपने अशुभ कर्म के उदय से भूख प्यास वा रोग आदि से दुखी हैं ऐसे अपात्रों को भी करुणा दृष्टि से भोजन, औषधि और वस्त्रादि का दान अवश्य देना चाहिये । ऐसे अपात्रों को पात्र समझ कर कभी दान नहीं देना चाहिये ॥१८॥

नानाविधमितिदानं पात्रापात्रं विचार्य निरपेक्षम् ।
ये ददते ते यन्त्यपवर्गमनन्तं ह्यमेयर्द्धिम् ॥१९॥

इस प्रकार दान के अनेक भेद हैं । इन सब को समझकर तथा पात्र अपात्रों को समझकर जो श्रावक निरपेक्ष दृष्टि से दान देते हैं वे पुरुष अनन्त काल तक रहने वाली मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं तथा उन्हें अनन्त ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥१९॥

ददतु ददतु दानं नश्वरौ भूतिकायौ,
दधतु दधतु धर्मं शर्म भूयो यशस्यम् ।
बलवति समवर्तिन्यागतेऽमून्गृहीत्वा,
तदनु वत भवन्तो ब्रूयु रेष्यन्ति कुत्र ॥२०॥

इस संसार में यह विभूति यह शरीर सब नश्वर है. क्षण में नाश होने वाला है, यही समझ कर सदा दान देते रहना चाहिये तथा भारी यश को फैलाने वाले और आत्मा का कल्याण करने वाले धर्म को धारण करते रहना चाहिये ।

क्योंकि यदि सब से बलवान यमराज वा काल प्राण लेने के लिये आ जायगा तब कहो तो सही आप लोग कहाँ जायँगे ? भावार्थ—यदि दान और धर्म नहीं किया जायगा तो अवश्य ही मरने पर नरकादिक में जाना पड़ेगा, इसलिए परलोक को सुधारने के लिये दान और धर्म अवश्य करते रहना चाहिये ॥२०॥

इस प्रकार विद्वद्वर पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्री विरचित
षट्कर्म समुच्चय में दान को निरूपण
करने वाला यह छठा अधिकार
समाप्त हुआ ॥

प्रशस्तिः—

न स्वीयशब्दा न च नैजभावो ।
न चास्मि विद्वानपि नार्षविज्ञः ॥
समन्ततस्सूरिगिरस्समेत्य,
समुच्चयो ऽकारि मयाल्पबुद्धया ॥१॥

इस ग्रंथ में न तो मेरे शब्द हैं और न मेरे भाव हैं तथा मैं न तो विद्वान हूँ और न आर्ष शास्त्रों का अच्छा जानकार हूँ। इसलिये प्राचीन आचार्यों के वचनों को चारों ओर से इकट्ठे करके मुझ अल्प बुद्धि ने यह षट्कर्म समुच्चय नाम का शास्त्र लिख डाला है ॥१॥

यास्तु प्रमादादथ मेऽल्पबुद्धे—
स्त्रुट्योऽभवंस्ताः कृपया विदग्धाः ॥
क्षीराम्बुविज्ञाः परिशोधयन्तु,
शास्त्राम्बुधौ को न विमुह्यतीह ॥२॥

इसमें मेरे प्रमाद से अथवा मेरी अल्प बुद्धि के कारण जो त्रुटि व कमी रहगई हो उसे दूध पानी के अलग-अलग स्वरूप को जानने वाले चतुर पुरुष शुद्ध कर लेवें। क्योंकि इस शास्त्र रूपी समुद्र में भला कौन मोहित नहीं होता है अर्थात् सभी भूलते हैं ॥२॥

स्याद्वादवार्धिरतुलप्रतिभः सुवाग्मी,
वादीभसिंहपदभाक् जिनशासनज्ञः।
साहित्यसूरिविदितो विबुधाग्रणीर्मे,
विद्यागुरुर्जयति मक्खनलाल शास्त्री ॥३॥

स्याद्वादरूप विद्या के समुद्र, अनुपम प्रतिभाशाली, अद्वितीय वक्ता, अनेक प्रवादीरूप हाथियों का मान भङ्ग करने के लिये सिंहस्वरूप, जैनशास्त्रों के विशेषज्ञ, साहित्यसूरि पद से विभूषित, विद्वानों में प्रमुख एवं मुझ ग्रन्थकार के विद्यागुरु श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री जयशील रहें ॥३॥

षट्कर्मसमुच्चयमिदमात्महितायैव शास्त्रिणा शास्त्रम्।
श्री श्यामसुन्दरेण कृतमोङ्कारप्रसादपुत्रेण ॥४॥

यह षट् कर्म समुच्चय नाम का शास्त्र श्रीमान् ओंकार प्रसादजी के सुपुत्र पं० श्यामसुन्दरलाल शास्त्री ने केवल अपने आत्मा का हित करने के लिये बनाया है ॥४॥

बाणनिधिग्रहकान्दे सुविक्रमीये शुभेऽह्नि रविवारे।
शारद्यां राकायां ग्रन्थसमाप्तिः प्रजातेयम् ॥५॥

यह ग्रंथ विक्रम सम्वत् उनईससौ पिचानवे में आश्विन शुक्ला पौर्णिमा रविवार के दिन समाप्त हुआ है। ५॥

लसति गगनपीठेऽविच्चपाधीशयुग्मं,
कनककपिशमेरुर्भाति यावच्च तावत् ॥
सुखयतु बुधवृन्दं शास्त्रमार्षञ्च तद्ध—
ज्जयतु जयतु वीरः क्षीणकर्मा जिनेन्द्रः ॥६॥

इस गगन मंडल में जबतक सूर्य चन्द्रमा शोभायमान हैं और सुवर्ण की कांति को धारण करने वाला मेरुपर्वत जबतक शोभायमान है तबतक यह आर्षग्रन्थ विद्वानों को सुख पहुँचाता रहे तथा तब तक समस्त कर्मों को नाश करने वाले श्री वर्द्धमान जिनेन्द्रदेव जयशील रहें ॥६॥

श्री १०८ मल्लिसागर मुनिपूजा

(विद्वद्वर पं० श्रीश्यामसुन्दरलाल शास्त्रि विरचिता)

संसाराम्बुधितारकं मुनिवरं रत्नत्रयी राजितं,
निश्शेषासुभृतां हितैषिणमरं दैगम्बरं सुन्दरम् ।
रागद्वेषप्रपञ्चभञ्जनपरं शान्तिक्षमाधीश्वरं,
श्रीमन्तं हृदिमल्लिसागरमृषिं संस्थापयामोवयम् ॥१॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मल्लिसागर स्वामिन् अत्रावतरावतर संवौषट् आह्वाननम् ।

ॐ ह्रीं श्री १०८ मल्लिसागर स्वामिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम् ।

ॐ ह्रीं श्री १०८ मल्लिसागर स्वामिन् अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् इति सन्निधीकरणम् ।

अथाष्टकम्

यो मोहमल्लमतिभीममपास्यवेगा—
ज्जैनेश्वरीमनुपमां हि बभार दीक्षाम् ।
मर्त्येन्द्रशक्रदिवजस्तुतिगोचरं तं,
श्रीमल्लिसागरमहं शिरसाऽभिवन्दे ॥२॥

जराजन्ममहद्दुःख मद्य यावन्ननाश न ।
मल्लिसागरमर्च्चे तन्नाशार्थं स्वच्छधारिणा ॥३॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मुनि मल्लिसागर स्वामिने जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

नानाभवार्जितमहादुरितानि शीघ्रं,
सम्यग्यदीय चरणाब्ज महासपर्या ।
प्रक्षालयत्यखिलसद्गुणमण्डितं तं,
श्रीमल्लिसागर महं शिरसाभिवन्दे ॥४॥
संसारतापसन्तप्तो भ्रान्तः संसृतिकानने ।
मल्लिसागरमर्च्चेऽहं दुरितातपशान्तये ॥५॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मुनि मल्लिसागर स्वामिने चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

युक्तं व्रतैः समितिगुप्तितपोऽभिरामं,
तेजोऽञ्चितं ललितलक्षणदिव्यकायम् ।
सज्जातिवंश वृष रक्षणमुन्नयन्तं,
श्रीमल्लिसागरमहं शिरसाभिवन्दे ॥६॥
विनाशान्ते सुखाभासे प्राणी मोमुह्यते वृथा ।
अक्षतानन्तसौख्याय यजे तं मुनिमक्षतैः ॥७॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मुनि मल्लिसागर स्वामिनेऽक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ।

दिव्यैरनेक कुसुमैर्हरितैर्मनोज्ञैः,
पुष्पेषुमानदलनाय सुगन्धयुक्तैः ।
संपूज्य मोक्ष सरणिं वपुषोद्गिरन्तं,
श्रीमल्लिसागरमहं शिरसाऽभिवन्दे ॥८॥
कामधूर्तो मयाऽनादौ भवकक्षे न पाटितः ।
भ्रमता तन्निवृत्यर्थं पुष्पैः सुरभितैर्यजे ॥९॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मुनि मल्लिसागर स्वामिने पुष्पं नि० स्वाहा ।

हृद्यैरनेकरसमिश्रितमोदकाद्यै –
र्हृद्घ्राणनेत्र सुखदैर्वरपात्रसंस्थैः ।
सम्पूज्य संसृतिमहार्णवदिव्यपोतं,
श्रीमल्लिसागर महं शिरसाऽभिवन्दे ॥१०॥
यावत्कृतः प्रतीकारः क्षुधाग्निर्धुक्षिता ध्रुवम् ।
तद्विनाशाय योगीन्द्र मर्च्चयामि जितेन्द्रियम्॥११॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मुनि मल्लिसागर स्वामिने नैवेद्यं नि० स्वाहा ।

निर्धूमदीपनिवहैर्दलितान्धकारैः,
प्रक्षीण मोहमदबन्धनमर्च्चयामि ॥
स्याद्वाद तत्वकथनैकपटुं मुनीशं,
श्रीमल्लिसागर महं शिरसाऽभिवन्दे ॥१२॥
मोहान्धकारसंघट्टेऽन्धायते नेत्रवानपि ।
तद्विनाशाय योगीन्द्रं यजे दीपैर्मनोहरैः ॥१३॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मुनिमल्लिसागरस्वामिने दीपं नि० स्वाहा ।

सद्दृष्टि बोध चरणैरमितैः प्रपन्नं,
धर्मं शुभं दशविधं परिपालयन्तम् ।
मूलोत्तराखिलगुणैर्विमलैर्विशुद्धं,
श्रीमल्लिसागरमहं शिरसाऽभिवन्दे ॥१४॥

आत्मन ! कर्माष्टकेन त्वं बद्धः संसृतिबन्धने ।
धूपैः कर्पूरसम्मिश्रैः मुमुक्षो ! यज योगिनम् ॥१५॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मुनि मल्लिसागर स्वामिने धूपं नि० स्वाहा।

ये नाथ ! ते ऽङ्घ्रियुगलं सुफलैर्महन्ति,
नश्यन्ति पाप पटलानि महान्ति तेषाम् ॥
संपूज्य शुद्धमनसा वपुषा च वाचा,
श्री मल्लिसागरमहं शिरसा ऽभिवन्दे ॥१६॥

कदली दाडिमाद्यैः फलै र्मोक्ष फलाप्तये ।
मुनीन्द्रं पूतगात्रं तं यजे ऽहंमल्लिसागरम् ॥१७॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मुनि मल्लिसागर स्वामिने फलं नि० स्वाहा ।

वार्गन्धाक्षतपुष्पचारुचरुभिर्दीपैः सुधूपैः फलै—
र्व्यामिश्रै र्ललितै र्मनोज्ञकनकस्थालीधृतैर्मङ्गलैः ॥
नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिपालयन्त मखिलं लोकत्रयीवन्दितं,
पुण्यद्धर्यै गुरु मल्लिसागर महं सम्पूजयामि ध्रुवम् ॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मल्लिसागर स्वामिने ऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

अथ जयमाला

निखिलविबुधसेव्यो जातरूपो विरागो,
हितमित परिभाषी भव्यवन्द्यो वितन्द्रः ॥
विजितसुभटमोहः सर्वसावद्यहीनो,
जयतु जयतु नित्यं 'मल्लिसिन्धु' र्मुनीन्द्रः ॥१॥

क्षमाधर शान्त निराकुलचित्त ;
महोदय पञ्चमहाव्रतवित्त ॥
प्रवादिकुवादविभञ्जनवीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधनधीर ॥२॥

निवारितमोह गुणव्रजनिघ्न ।
जिताखिलघोरपरीषहविघ्न ॥
भवार्णवपारग कर्मठ वीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधन धीर ॥३॥

दयामय मूलगुणव्रतपूर ।
कषायमहोरगमर्दनशूर ॥
जितेन्द्रिय वीतकलङ्क गभीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधन धीर ॥४॥

सुदर्शन बोध चरित्र पवित्र ।
विशुद्धविवेक समृद्धचरित्र ॥
विधूतकदागममेघ समीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधन धीर ॥५॥

प्रणष्टगभीरविसंसृतिकूप ।
विपाटितकाम नतामरभूप ।
निरीह दिगम्बर नग्नशरीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधन धीर ॥६॥
ममत्वविहीन परिग्रहहीन ।
महामहनीय सुधर्मनदीन ॥
जिनागमकोविद निर्मल वीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधन धीर ॥७॥
अशेषविदग्धसमादरणीय ।
त्रिलोकहितेच्छुक सद्गणनीय ॥
सदुग्रतपश्चरणे वरवीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधन धीर ॥८॥
गतस्पृह तर्जितमानकषाय ।
विदूरितकुत्सितभाव विमाय ॥
महोत्कटसंयमपालनवीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधन धीर ॥९॥
धरातलशायिनमाशु नमामि ।
सकृच्छुचिभुक्तिधरं प्रणमामि ॥
व्यतीतविषाद शिवंकर वीर ।
प्रसीद मुनीन्द्र तपोधन धीर ॥१०॥
जय वीतकलङ्क निजात्मलीन ।
जय संशयकोपकलापहीन ॥

जय जातिविशुद्ध सुवंशजात ।
जय दुर्मतयुक्तिनिशाप्रभात ॥११॥
जय "दौलतराम" सुपुत्ररत्न ।
जिनशासनचिन्तनसत्प्रयत्न ।
जय केशविपाटनशान्तवृत्त ।
उपवासविमण्डनदत्तचित्त ॥१२॥
जय "शान्तिपयोनिधि"* शिष्यवर्य ।
जय पञ्चखकौमुदचण्डसूर्य ॥
जय योगविनिग्रह गुप्तिपाल ।
गतशोकपरिग्रहतापजाल ॥१३॥
तपोध्यानरक्तोऽखिलाशाविरक्तः,
सुरैर्वन्द्यपादः प्रमत्तोऽप्रमत्तः ।
जगत्प्राणिवर्गे कृपालुर्दयालुः,
सदा पातु नो 'मल्लिसिन्धु' र्मुनीन्द्रः ॥१४॥
अनेकासनै र्ध्यानमग्नः शिवात्मा,
वचोभिः शठानामपि स्थास्नुचित्तः ॥
जगद्दृश्यनिर्वीक्षणनासाग्रदृष्टिः,
सदा पातु नो 'मल्लिसिन्धु' र्मुनीन्द्रः ॥१५॥
यथा ज्योतिषां मध्यगो रात्रिनाथ-
स्तथा भव्यमध्यस्थितो दिव्यतेजाः ।
प्रकाशोपदेशं ददत्पूज्यपादः,
सदा पातु नो 'मल्लिसिन्धु' र्मुनीन्द्रः ॥१६॥

---

* छाणी ग्रामजः

विशुद्धां सुभिक्षां त्रिवर्गैः प्रदत्तां,
दधत्स्वादहीनां त्यजन्नन्तरायान् ।
लसज्ज्ञानतेजःप्रभः शान्तिमूर्तिः,
सदा पातु नो 'मल्लिसिन्धु' र्मुनीन्द्रः ॥१७॥

तृणाद्याखिलं वैभवं चाशु मत्त्वा,
क्षणे लीयमानं कुटुम्बस्य योगम् ।
दधज्जैनदीक्षां च वैराग्यभारं,
सदा पातु नो 'मल्लिसिन्धु' र्मुनीन्द्रः ॥१८॥

त्रैसन्ध्यं ते चरणयुगलं नाथ ये वार्चयन्ति,
नानामित्राणि विपुलधनं पुत्रसौख्यं मनोज्ञम् ।
उच्चैर्गोत्रं सुखदगृहिणीं ते सुभव्याः लभन्ते,
देवेन्द्रत्वं किमिति बहुना मोक्ष मप्यात्मलक्ष्यम् ॥१९॥

ॐ ह्रीं श्री १०८ मल्लिसागर स्वामिने महार्घ्यं नि० स्वाहा ।

यावत्संसृति कानने ऽस्ति भगवन्मेऽसिद्धभावोदयः,
किंवा यावदनन्त केवल निधिं नाप्नोम्यहं तत्वतः ।
तावन्नन्दतु नाथ ! ते ऽङ्घ्रियुगरक्ता भक्तिसद्वल्लरी,
मे रत्नत्रयमण्डिते सुहृदयोद्याने सदा पुष्पितां ॥२०॥

(इत्याशीर्वादः)

———

श्री १०८ मुनिराज मल्लिसागरजी महाराज का—

संक्षिप्त जीवन परिचय

आदहिदं कादव्वं जं सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिद परहिदादो आदहिदं सुठ्ठु कादव्वं ॥

भगवत्कुन्दकुन्द

बम्बई प्रान्त में नासिक जिले में नांदगांव एक समृद्ध कस्बा है यहाँ पर जैनियों की संख्या अच्छी है प्रायः सभी भाई धार्मिक, सदाचारी एवं समृद्ध हैं इसी जगह खण्डेलवाल जाति को अलंकृत करने वाले श्रीमान् सेठ दौलतराम जी सेठी निवास करते थे, आप परम उदार व्यक्ति थे आप अपनी नैसर्गिक धर्म-प्रियता एवं परोपकारतल्लीनता के लिये नांदगांव में प्रसिद्ध थे। यही कारण था कि नांदगांव जैन समाज में आपका अच्छा आदर था।

आपकी आदर्श नारीरत्न धर्म पत्नी का नाम सौ० सुन्दर-बाई था, ये अतीव सरल परिणामी एवं धार्मिक विदुषी महिला थीं आपकी ही पवित्र कुक्षि ने चन्दूलाल, मोतीलाल, केशरबाई एवं हरखा बाई इस तरह दो पुत्र एवं दो पुत्रियों को जन्म दिया था।

ज्येष्ठ पुत्र श्रीयुत चन्दूलालजी ने कुछ समय पूर्व इस पर्याय को छोड़ दिया, अब इस समय आपके सुपुत्र जीवित हैं।

द्वितीय पुत्र श्री मोतीलालजी (वर्तमान में परम पूज्य श्री १०८ मुनिराज मल्लिसागरजी महाराज) अपनी बाल्यावस्था से ही संसार से उदासीन एवं धार्मिक क्रियाओं में दत्तावधान थे, बालक मोतीलाल को ५ वर्ष की अल्पावस्था में विद्याभ्यास के लिए पाठशाला में भेजा गया, अपने स्वाभाविक चातुर्य से

स्वल्प समय में ही बुद्धि वृद्ध मोतीलाल ने अच्छा विद्याभ्यास कर लिया जिससे आपको ज्ञानाभ्यास एवं निर्वेग दोनों में ही अत्यधिक अभिरुचि का संचार होने लगा। बचपन से ही उत्पन्न हुआ वैराग्याङ्कुर २५ वर्ष की अवस्था तक अच्छा एवं हरा भरा वृक्ष होगया इसी से परमौदास्य निमग्न श्री मोतीलाल जी ने अनेकशः प्रस्तावित अपने विवाह का प्रस्ताव ठुकरा दिया।

उदासीन मोतीलाल के सौभाग्य ने अथवा तथाभावि ने श्री १०५ ऐलक पन्नालालजी को नाँदगाँव चातुर्मास करने के लिये लाचार कर दिया, निरन्तर सहवास एवं शास्त्रचर्चा समागम से प्रौढ़ मोतीलालजी का विरक्त हृदय और भी विरक्त हो गया, फलतः आपने कार्तिक शु० ११ सं० १९७९ के दिन प्रोक्त त्यागमूर्ति ऐलकजी से दूसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये साथ ही साथ समस्त गृहभार छोड़कर आप अपने दीक्षा गुरु के साथ ही रहकर अपना समस्त समय विद्याध्ययन में ही व्यतीत करने लगे। अनेक जगह वर्षा योग कर गुरु से अलग होकर गिरनार आदि तीर्थक्षेत्रों की वन्दना भी की।

सप्तम प्रतिमा दीक्षारम्भ

अनुक्रम से अनेक जगह धर्मोपदेश देते हुये आप ईडर राज्य पहुँचे। वहाँ पर आपने सं० १९८४ का वर्षा योग किया, इसी अवसर पर जगद्वन्द्य प्रातःस्मरणीय श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) भी यहीं पर विराजमान थे। आपके चरण सान्निध्य का आपने लाभ उठाकर वहीं पर मार्गशीर्ष सुदी ७ सम्वत् १९८४ के दिन सप्तम प्रतिमा की दीक्षा ली। "तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके, चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः" अब से मोतीलालजी ब्रह्मचर्य व्रत के प्रतिज्ञा रूप से भी प्रतिपालक होगये।

तदनन्तर ब्रह्मचारी मोतीलालजी ने तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये विहार किया। यहाँ पर आचार्य-प्रवर जगद्वन्द्य विद्वद्वन्द्यपाद श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (दक्षिण) के संघ के दर्शन कर अपने को कृतार्थ किया। संघ में रहकर अनेक जगह भ्रमण कर ग्वालियर पहुँचकर पृथक् विहार आरम्भ कर दिया।

क्षुल्लक दीक्षा संस्कार

इसके बाद अनेक जगह भ्रमण कर पूज्य ब्रह्मचारी मोतीलालजी इन्दौर पधारे। यहाँ पर आपने श्री १०८ मुनिराज शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) के पादमूल में भाद्रपद शुक्ला सप्तमी १९८७ के दिन ५-६ हजार जनता के समक्ष भारी उत्सव पूर्वक क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर श्रावकीय उत्तम श्रेणी में पदार्पण किया, बाद में भ्रमण कर सिद्धवर कूट तीर्थक्षेत्र की वन्दना की।

मुनिदीक्षा संस्कार समारम्भ

यहीं पर जगदुद्धारक परम तपस्वी नग्न दिगम्बर वीतराग जैनाचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज (छाणी) के चरण कमल में नग्न दिगम्बर दीक्षा की याचना की, त्रिकालवन्दनीय आचार्य महाराज ने भी आपको सर्वथा दिगम्बर दीक्षोचित समझ कर अपनी 'तथाऽस्तु' अनुमति देदी "अभ्युद्यते दिनपतौ समहीरुहोऽपि, किंवा विबाधमुपयाति न जीवलोकः" आपने मिती मगसिर वदी १४ सं० १९८७ बुधवार के दिन तीर्थक्षेत्र सिद्धवरकूट पर संसार से तारनेवाली, अत्यन्त दुष्प्राप्य, स्वैराचार विरोधिनी, पद पद पर अहिंसामय, क्षण क्षण पर संयममय ऐसी परम पवित्र परम पारिव्राज्य स्वरूप दिगम्बर दीक्षा धारण की। दीक्षा की समस्त विधि मन्त्रपूर्वक भारी जनसमूह के समक्ष श्री १०८ आचार्यवर्य शान्ति सागर जी महाराज ने स्वयं अपने करकमलयुगल से की उस समय केशलोंच

करते हुये तपोनिष्ठ पूज्यवर श्री १०८ मुनिराज मल्लि सागर जी महाराज का धैर्य देखते ही बनता था आप थोड़े भी विचलित नहीं हुये प्रत्युत प्रसन्नचित्त एवं दृढ़संकल्प दिखलाई पड़ते थे उस समय का अपार जन समूह चतुर्दिश धन्य धन्य कर रहा था वह भव्य दृश्य अत्यन्त ही सुहावना था उसी समय इन नवदीक्षित नग्नमुद्र महाराजश्री ने अपने परमाराध्य दीक्षागुरु को परम उत्तरदायित्व पूर्ण आचार्य पद से अलंकृत किया।

इस तरह दीक्षा धारण कर महाराजश्री ने भ्रमण करते हुये अनेक जगह भव्यवर्ग को सम्बोधित कर बनारस पहुँच चातुर्मास किया वहां से द्वितीय वार तीर्थराज की वन्दना की तदनन्तर विहार, यू० पी०, सी० पी०, पंजाब, देहली आदि ब्रिटिश प्रान्तों एवं ग्वालियर, जयपुर, धौलपुर, किशनगढ़, कुचामन, परतापगढ़ आदि देशी राज्यों में विहार कर शतसहस्त्र मनुष्यों के चारित्र को वृद्धिगत कर जैन तथा जैनेतर जनता में जैनधर्म की अपार जागृति तपोधन पूज्य महाराज के द्वारा हुई है।

इस प्रकार महाराज का बाल्यकाय से लेकर अब तक का जीवन परम धार्मिक एवं शान्ति मय रहा है आपको आर्षविरुद्ध एक भी शब्द सह्य नहीं होता है यही कारण है आधुनिक वातावरण से विक्षिप्त अनेक सुधारवादी व्यक्तियों को समय समय पर महाराज के सामने नतमस्तक होना पड़ा है अस्तु।

अपनी बढ़ी चढ़ी वैराग्य वृत्ति तथा व्रताभ्यास के कारण श्री १०८ वीतराग तपस्वी परम पूज्य मुनिराज मल्लि सागर जी महाराज अनेक उपवास, नीरस आहार, बहुत कालपर्यंत ध्यान आदि करते हैं, समय समय पर कई कई घन्टे धाराप्रवाह धर्मोपदेश भी देते हैं, नित्यक्रिया एवं ध्यानातिरिक्त समय को शास्त्रस्वाध्याय एवं ज्ञानाभ्यास आदि वीतराग कार्यों में ही

व्यतीत करते हैं। पूज्यतम महाराज श्री ने हजारों ही श्रावकों को व्रतारूढ़ कर एवं उनसे शूद्रजल त्याग कराकर इस युग का एक महान् कार्य किया है। आपके ही चरण कमल के प्रसाद से मेरठ में 'श्री १०८ मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला' कई साल से स्थापित है जिसके द्वारा समय समय पर आर्ष ग्रन्थों का प्रकाशन होता रहता है तथा उच्च कोटि के ग्रन्थों का खासा संग्रह रहने से स्वाध्याय प्रेमी समाज का भी परम कल्याण होता रहता है। इसी ग्रन्थमाला की ओर से हमारे माननीय भाई साहब श्रीयुत पं० श्यामसुन्दरलालजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा रचित एवं विद्वद्वर धर्मरत्न श्रीमान् पं० लालारामजी शास्त्री द्वारा अनुवादित "षट्कर्म समुच्चय" ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है जो श्रावकों के लिए तो अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा ही, साथ ही समाज के विद्यालयों की प्रारम्भिक श्रेणी के छात्रों के लिए भी एक खास चीज होगी यह निश्चित है। अस्तु

इस प्रकार परमपूज्य श्री १०८ मुनिराज मल्लिसागरजी महाराज ने परमाराध्य एवं स्वात्म-चरमोन्नति-साधक मुनिपद को धारण कर अपना तो परमहित सम्पादन किया ही है साथ ही आपके द्वारा धर्म एवं समाज का भी बहुत भारी हित हुआ है जिसके लिए यह जैनसमाज आपका चिरकृतज्ञ एवं ऋणी रहेगा।

अन्त में मैं परम वीतराग नग्न दिगम्बर तपोमूर्ति मुनिराज श्री १०८ मल्लिसागरजी महाराज के चरणकमलों में नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु करता हुआ महाराज का यहां तक का जीवनचरित्र संक्षेप में पूर्ण करता हूँ।

फीरोजाबाद
१-६-३६

वीरभान जैन